समर्पण

३७ चक, ज़ीरो रोड,
इलाहाबाद

प्रिय श्री सत्यनारायण व्यास,

कई वर्ष तक पड़ी रहकर बिहारी की यह छोटी-सी आलोचना अब छपकर मेरे हाथ में आ रही है। यही क्यों? तुम्हारे सहृदयता-पूर्ण सहयोग के बिना तो 'अध्ययन सिरीज' की सभी पुस्तकें उतने अच्छे रूप में प्रकाशित नहीं हो सकती थीं, जिस रूप में हिंदी संसार आज उन्हें देख रहा है। इस सबके लिए तुम्हें धन्यवाद देने की इच्छा होती है, परंतु हमारे-तुम्हारे जैसे सामान्यों और क़लम-जीवियों के लिए धन्यवाद जैसी चीज़ महान् आडंबर होगी। इसलिए इच्छा रहते हुए भी धन्यवाद नहीं दे सकता।

दे रहा हूँ यही एक छोटी-सी पुस्तक समर्पण के रूप में। आशा है, इसे लौटाओगे नहीं। बिहारी के संबंध में 'वाग्विभूति' 'बिहारी-दर्शन' जैसी दो-चार आलोचना-पुस्तकें चल रही हैं। तुम, साहित्य-रसिक हो। तुमने उन्हें देखा होगा। इसी से आशा है, यह पुस्तक तुम्हारा मनोरंजन करेगी और बिहारी की कला की एक नई परख के रूप में तुम इससे उस अभिन्नता का आनंद ग्रहण कर सकोगे जो सहृदय, समझदार और आलोचक को एक ग्रंथि में बाँध देता है।

आगे का युग हम-तुम जैसे लाखों-करोड़ों सामान्यों का ही युग होगा। इसी से तुम्हें यह भेंट।

तुम्हारा
रामरतन भटनागर

मई सोलह,
उन्नीस सौ सैंतालिस

प्रथम संस्करण १९६७

मुद्रक—पं० रामभरोस मालवीय, अभ्युदय प्रेस, प्रयाग
प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

समर्पण

३७ चक, ज़ीरो रोड,
इलाहाबाद

प्रिय श्री सत्यनारायण व्यास,

कई वर्ष तक पड़ी रहकर बिहारी की यह छोटी-सी आलोचना अब छपकर मेरे हाथ में आ रही है। यही क्यों? तुम्हारे सहृदयता-पूर्ण सहयोग के बिना तो 'अध्ययन सिरीज' की सभी पुस्तकें उतने अच्छे रूप में प्रकाशित नहीं हो सकती थीं, जिस रूप में हिंदी संसार आज उन्हें देख रहा है। इस सबके लिए तुम्हें धन्यवाद देने की इच्छा होती है, परंतु हमारे-तुम्हारे जैसे सामान्यों और क़लम-जीवियों के लिए धन्यवाद जैसी चीज़ महान् आडंबर होगी। इसलिए इच्छा रहते हुए भी धन्यवाद नहीं दे सकता।

दे रहा हूँ यही एक छोटी-सी पुस्तक समर्पण के रूप में। आशा है, इसे लौटाओगे नहीं। बिहारी के संबंध में 'वाग्विभूति' 'बिहारी-दर्शन' जैसी दो-चार आलोचना-पुस्तकें चल रही हैं। तुम, साहित्य-रसिक हो। तुमने उन्हें देखा होगा। इसी से आशा है, यह पुस्तक तुम्हारा मनोरंजन करेगी और बिहारी की कला की एक नई परख के रूप में तुम इससे उस अभिन्नता का आनंद ग्रहण कर सकोगे जो सहृदय, समझदार और आलोचक को एक ग्रंथि में बाँध देता है।

आगे का युग हम-तुम जैसे लाखों-करोड़ों सामान्यों का ही युग होगा। इसी से तुम्हें यह भेंट।

तुम्हारा
रामरतन भटनागर

मई सोलह,
उन्नीस सौ सैंतालिस

विषय-सूची

१

जीवनी

हिंदी के अन्य कवियों की भाँति कविवर विहारीलाल के जीवन के सम्बन्ध में भी हमारा ज्ञान बहुत थोड़ा है। निश्चयपूर्वक केवल यही कहा जा सकता है कि उनका सम्बन्ध महाराज जयसिंह के दरबार से था और उन्होंने संवत् १७१६ (१६६२ ई०) में सतसई को समाप्त किया।[1] परन्तु इस अध्याय में हम यथा-सामर्थ्य उनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

वंश

शिवसिंह ने विहारीलाल को चौबे माना है।[2] डा० ग्रियर्सन का भी यही मत है।[3] श्री राधाचरण गोस्वामी का मत है कि विहारी भाट हैं। वे "राय" हैं।[4]

---

१ इस तिथि का आधार यह दोहा है—

संवत ग्रह ससि जलधि छिति, छठि तिथि वासरचंद
चैत मास पख कृस्न मैं, पूरन आनँद कंद

परन्तु रत्नाकर इसे कृष्णलाल की गद्य टीका का समय मानते हैं। (नागरी प्रचारिणी, पत्रिका, भाग ८, अंक २, पृ० ११५)।

२ सरोज पृ० २३४

३ देखिये, ग्रियर्सन का 'The Vernacular Litrature of Hindustan"

४ राधाकृष्णदास : कविवर विहारीलाल का जीवन-चरित्र (राधाकृष्ण ग्रन्थावली, भाग १, पृ० २१३)

हरिचरणदास जी ने बिहारी-सतसई की टीका करते हुए उन्हें केशव से सम्बन्धित किया है और द्विजराज ब्राह्मणश्रेष्ठ कहा है।[५] राधाकृष्णदास ने उन्हें सनाढ्य ब्राह्मण सिद्ध किया है।[६] अन्तर्साक्ष्य से इस सम्बन्ध में हमें कुछ भी सहायता नहीं मिलती। "बिहारी बिहार"[७] की भूमिका के अनुसार बिहारीलाल धौम्य गोत्री सोती घरबारी माथुर चौबे थे। श्री जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर इस अन्तिम मत का पोषण करते हैं।[८] पं० गिरिधर शर्मा[९] और स्वर्गीय मु० देवीप्रसादजी[१०] की खोजों से भी इस मत का समर्थन होता है। पं० अयोध्याप्रसाद पाठक का कहना है कि बिहारीलाल माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण हैं।[११] उन्होंने सतसई के कुछ ऐसे शब्दों की ओर संकेत किया है जो माथुर चतुर्वेदियों के ठेठ शब्द हैं।[१२] इसके अतिरिक्त उन्होंने बुन्देलखंड के कुछ प्रचलित रिवाजों को सतसई में ढूँढ निकाला है।[१३]

---

५ बिहारी-सतसई की टीका : भूमिका

६ राधाकृष्ण ग्रंथावली पृ० २२०

७ रचनाकाल सं० १७२१ (१६६४ ई०) है

८ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, अंक २

९ वही

१० वही

११ "साधना" (मासिक), कार्तिक १९९६.

१२ ककाही = ककई-कंघी

गरन = कढ़ी (झोर) बनाने में जो तेल में तले हुए बेसन के सेव अथवा मूँग की दाल के कतले डाले जाते हैं।

१३ बुन्देलखंड में दाँत रँगने का रिवाज है। वहाँ चमकीले, मोती से दाँत किसी के ही मिलेंगे। बिहारी ने लिखा है—

नैकु हँसौंही बानि तजि लख्यौ परत मुख नीठि
चौका चमकनि चौंध में परति चौंध सी दीठि

माता-पिता

यदि बिहारीलाल के माता-पिता के सम्बन्ध में ही कुछ ज्ञान होता, तो भी हमें उनका वंश स्थिर करने में सहायता मिलती, परन्तु यहाँ भी इतिहास मौन है। माता के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते। हाँ, पिता के सम्बन्ध में हमें कुछ विस्तार से लिखना पड़ेगा।

अनेक टीकाकार और विहारी-साहित्य के आलोचक हिन्दी के प्रसिद्ध कवि "रामचंद्रिका" के लेखक और प्रारम्भिक रीति-काल के प्रधान स्तम्भ महाकवि केशवदास को विहारीलाल का पिता मानते हैं। इन सभी का आधार विहारी का यह दोहा है—

जनम लियो द्विजराज कुल सुबस बसे ब्रज आय
मेरे हरो कलेस सब केशव केशवराय

यदि यह बात ठीक हो कि इस दोहे के "केशवराय" और प्रसिद्ध कवि केशवदास एक ही व्यक्ति हैं, तो विहारी के वंश के सम्बन्ध में भी प्रकाश पड़ जाता है और हमारा मत स्थिर हो जाता है। इसके लिए हमें केशवदास के ग्रंथ उलटने पड़ते हैं। अंत में एक स्थान से हमें पता चलता है कि केशवदास ने स्वयं को "केशवराय" लिखा है। यह स्थान "विज्ञान गीता" के ये छंद हैं—

केशव तुग्यारन्य में नदी वैतवै तीर
नगर ओड़छो बहु बसैं पंडित मंडित भीर
तहाँ प्रकास सों निवासु मिश्र कृष्णदत्त को
अनेक पंडितागुनी सुदास विष्णुभक्त को
सुकाशिनाथ तासु पुत्र विज्ञ काशिनाथ को
सनाढ्य कुंभवार अंस वंस वेद व्यास को

पता चलता है कि उनके निर्माणकाल में बड़ा भेद है। आश्रयदाता जयसिंह के सम्बन्ध में कुछ ऐसे दोहे कहे गए हैं जो ऐतिहासिक घटनाओं को ओर संकेत करते हैं। इनसे यह बात स्पष्टतयः सिद्ध हो जाती है। विहारी का एक दोहा इस प्रकार है—

घर घर हिन्दुनि तुरकिनी देति असीस सराहि
पतिन राखि चादर चुरी तैं राखी जयसाहि

इस दोहे में दक्षिण की लड़ाई के सम्बन्ध में इशारा है। इसका काल सम्वत् १७११ (१६६५ ई०) है। जयसिंह ने कूटनीति से काम लेकर शिवाजी को मुग़ल सम्राट् के विरुद्ध उत्पात करने से रोक दिया था और इस प्रकार युद्ध टल गया। यह दोहा इसी विषय में है। इससे यह पता चलता है कि सन् १६६५ ई० में विहारीलाल महाराज जयसिंह के दरबार में थे। परन्तु एक अन्य दोहे से यह भी पता चलता है कि वे १६२८ सन् ईसवी में भी जयसिंह के साथ थे। दोहा यह है—

यों दल काढ़े बलख तें तैं जयसाह भुआल
बदन अघासुर के परे ज्यों हरि गाय गुआल

बलख की चढ़ाई ऐतिहासिक घटना है। सम्भव है, विहारी इससे भी पहले जयसिंह के दरबार में रहे हों। यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने यह दोहा जयसिंह को ही लक्ष्य करके कहा है, जब वे अपनी नई रानी के प्रेम में लिप्त हो रहे थे—

नहिं पराग नहिं मधुर रस नहिं विकास एहि काल
अली कली ही सों रम्यो आगे कौन हवाल

अतएव केशवदास का समय १५५५ ई०—१६११ ई० है (बाद में भी वे जीवित रहे) और विहारी जयसिंह के यहाँ १६२८ ई० से १६६८ तक तो रहे ही। मान लीजिये १६२८ ई० में विहारी २८ वर्ष के तरुण थे, इससे कम आयु में उनका जयसिंह के दरबार में

तिनके केशवराय सुत भाषा कवि मतिमंद
करी ज्ञान गीता प्रगट श्री परमानँद कंद

इन पंक्तियों से केशवदास (केशवराय) का वंशवृत्त इस प्रकार स्थिर होता है—

कृष्णदत्त
|
काशीनाथ
|
केशवराय

रामचंद्रिका में केशव ने इसी प्रकार अपना परिचय दिया है परंतु वहाँ अपना नाम केशवदास कहा है। अतः यह स्पष्ट है कि केशवदास और केशवराय एक ही व्यक्ति हैं।

परन्तु इस समस्या का हल यहीं नहीं हो जाता। संभव है केशवदास केशवराय होते हुए भी बिहारी के पिता केशवराय से भिन्न कोई दूसरे व्यक्ति हों।

पहले हम दोनों कवियों के समय का मिलान करके देखेंगे कि यह बात सम्भव भी है या नहीं। केशवदास का जन्म सं० १६१२ (१५५५ ई०) में हुआ। सं० १६५८ (१६०१ ई०) में उन्होंने रामचंद्रिका की रचना की।[१४] उन्होंने सं० १६४८ (१५६१ ई०) में रसिकप्रिया और सं० १६५८ (१६०१ ई०) में कविप्रिया का निर्माण किया। विज्ञान गीता का समय १६६८ (१६११ ई०) है। इधर सतसई की समाप्ति-तिथि १७१६ (१६६२) है।[१५] परन्तु सतसई के दोहों के अध्ययन से यह

१४ सोरह से अट्ठावन कातिक सुदि बुधवार
रामचंद्र की चंद्रिका तव लीन्ह्यो अवतार

१५ सम्वत् ग्रह शशि जलधि छिति छठ तिथि वासरचंद (ग्रह ९, जलधि ७, शशि १, छिति १, अतः १७१९)

विहारी के "केशोराइ" और कवि केशवदास में सामंजस्य विठाने की चेष्टा की गई है। विहारी और कुलपति मिश्र[१७] के दोहों में "केशव केशवराय" साथ आया है, इसके आधार पर श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने यह सम्भावना उपस्थित की है कि विहारी के पिता का नाम ही "केशव केशवराय" हो सकता है। उन्होंने वावू व्रजरत्न-दास के पास सुरक्षित एक हस्तलिखित पोथी के चार छंद भी उपस्थित किये हैं जिनमें कवि का उपनाम (या नाम) "केसो केसोराइ" आया है। उनके मत में यह सम्भव हो सकता है कि ये पद विहारी के पिता के ही लिखे हों?[१८]

जीवनवृत्त

इतने प्रसिद्ध कवि के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते। हाँ, एक प्राचीन दोहा अवश्य मिलता है—

जनम ग्वालियर जानिए खंड बुँदेले वाल
तरुनाई आई सुभग मथुरा वसि ससुराल

इसी से सब कुछ जान लीजिए। परन्तु यह सामग्री भी प्रामाणिक नहीं है। वावू राधाकृष्णदास ने इसके आधार पर यह अनुमान लगाया है कि विहारीलाल की ननिहाल या तो ग्वालियर में थी या केशवदास पहले ग्वालियर में थे और वहाँ इनका जन्म हुआ; फिर वाल्यावस्था वुन्देलखंड में विताई अर्थात् ओरछे में रहे और युवावस्था मथुरा में विताई। यहाँ इनकी ससुराल थी।[१९] यदि

---

१७ कुलपति मिश्र का दोहा यह है—

कविवर मातामह सुमिरि केसव केसवराय
कहौं कथा भारत्थ की भाषा छंद वनाय

विहारी का दोहा पहले उद्धृत किया जा चुका है।

१८ विहारी की वाग्विभूति : भूमिका

१९ राधाकृष्ण ग्रन्थावली, पृ० २१६

पहुँच जाना असम्भव था, तब उनका जन्म १६०० ई० के लगभग हुआ होगा जब केशवदास की आयु ४५ वर्ष की रही होगी। अतः इस विवेचन के आधार पर केशवदास और बिहारीलाल में पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित होना सम्भव है। परन्तु यह सब सम्भव हो जाने पर भी कई आपत्तियाँ बनी रहती हैं और उनका निराकरण कठिन काम है :

१—केशवदास और बिहारी दोनों ही अत्यंत प्रसिद्ध कवि हैं। समसामयिक और परवर्त्ती ग्रन्थकारों ने उनका उल्लेख किया है। फिर ऐसा क्यों कि वे लोग यह नहीं जानते थे कि दोनों में पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। यदि वे जानते तो इस बात को छिपाते नहीं। वे यह सिद्ध कर सकते थे कि पिता की विरासत पुत्र को मिली।

२—क्या दोनों कवियों की भाषा, शैली, धारणाएँ आदि मिलती हैं? यदि बिहारी केशव के पुत्र होंगे, तो उन्हें पितृदाय अवश्य मिला होगा? क्या सतसई में इसके चिन्ह हैं?

अध्ययन से यह पता चलता है कि बिहारी-सतसई पर कवि-प्रिया और रसिकप्रिया का प्रभाव है, परन्तु वह प्रभाव अधिक नहीं है और उनके बल पर केशव बिहारी में पिता-पुत्र का संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। इस प्रभाव को समझते हुए बाबू जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर महाकवि "केशोदास" और बिहारी में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जोड़ते हैं। उनके अनुसार बिहारी के पिता केशोराइ नाम के एक अन्य भिन्न कवि थे जो इनके जन्म के ७-८ वर्ष बाद ग्वालियर छोड़ कर ओरछे चले आये थे जहाँ दरबार में महाकवि केशवदास पहले ही सम्मानित थे। केशवराइ ने बिहारी को केशवदास के पास पढ़ने का प्रबन्ध कर दिया।[१६] इस प्रकार

१६ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, अंक २, पृ० १३६।

शासक की अयोग्यता के कारण छोड़ा तो वह १६२८ सन् से पहले की बात रही होगी। १६६५ ई० में सतसई का संग्रह करते समय बिहारी को ये दोहे इतने महत्वपूर्ण क्यों लगे कि उन्हें उस ग्रंथ में स्थान मिला। इसके अतिरिक्त जहाँ सतसई में इतने प्रारम्भिक काल के दोहे हैं, वहाँ वे अनुपात में इतने अधिक क्यों हैं ? दूसरे, उस युग में नीति सम्बन्धी दोहे लिखने की प्रथा चल रही थी। रहीम, तुलसी आदि अनेक कवियों ने ऐसे दोहे लिखे। इस विषय पर कुण्डलिया और अन्य छन्दों में भी रचना हुई। बिहारी के नीति सम्बन्धी दोहों में खींच-तान कर इस प्रकार के अर्थ लगाना ठीक नहीं।

बिहारी के जीवन सम्बन्धी इस निश्चित सामग्री को हम स्थान-स्थान पर रत्नाकर जी के द्वारा उपस्थित की हुई सामग्री से भरकर कवि के जीवनवृत्त की पूर्ति कर सकते हैं।

रत्नाकर जी के अनुसार बिहारी के पिता ओरछे में रहते हुए महात्मा नरसिंहदास के शिष्य हो गये थे। "बिहारी रत्नाकर" के २१वें दोहे में श्लेष के रूप में हम "नरहरि" को उपस्थित पाते हैं। सं० १६६४ (१६०७ ई०) में इंद्रजीत (ओरछा) का राज्य नष्ट हो गया और बिहारी के पिता वृन्दावन में रहने लगे। यहाँ उन्होंने मथुरा में अपनी पुत्री का विवाह किया। बिहारी का विवाह भी मथुरा में ही हो गया और बिहारी अपनी ससुराल में रहने लगे। सं० १६७५ में शाहजहाँ नरहरिदास के दर्शन के लिए वृन्दावन आया; वहाँ उससे बिहारी का परिचय हुआ और वे आगरे चले गये। वहाँ ये अबुलरहीम खानखाना से भी परिचित एवं पुरस्कृत हुए। १६७७ में शाहजहाँ के दरबार में बिहारी का परिचय बहुत से राजाओं से हुआ और उन्होंने उनकी वार्षिक वृत्ति बाँध दी। सं० १६७८ में शाहजहाँ जहाँगीर के क्रोध का भोजन हुआ और आर्थिक स्थिति डावाँडोल होने से बिहारी

यह अनुमान ठीक सिद्ध हो तो कल्पना को और आगे बढ़ाने में कोई हानि दिखलाई नहीं देती। जयपुर मथुरा के निकट है। एक दिन बिहारीलाल जयपुर के राज्यद्वार पर पहुँचे और उन्होंने अपना वह प्रसिद्ध दोहा लिखकर अन्तःपुर में भिजवाया जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। महाराज जयसिंह उनपर प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें अपना राजकवि बना लिया। तब से वे बराबर जयसिंह के दरबार में रहे। यहीं १६६२ ई० में उन्होंने अपनी सतसई को समाप्त किया। महाराज जयसिंह ने उन्हें फुटकर दोहों का संग्रह करने के लिए उत्साहित किया और उन्हें एक-एक दोहे पर एक-एक अशर्फी पारितोषिक दी। सन् १६६७ (सं० १७२४) में महाराज जयसिंह का देहांत हो गया। सतसई-निर्माण के बाद से हम बिहारी के सम्बन्ध में कोई ठीक-ठीक अनुमान भी नहीं लगा सकते। उनकी मृत्यु जयसिंह से पहले हुई या बाद? सतसई के समाप्त के बाद उन्होंने और दोहे लिखे या नहीं? यदि वे महाराज जयसिंह के स्वर्गवास के बाद जीवित रहे तो कहाँ रहे? उनका मृत्युकाल क्या है?

बिहारी के सम्बन्ध में राधाकृष्णदास ने यह कल्पना की है कि वे पहले ओरछा महाराज के यहाँ थे। सन् १६०७ में इंद्रजीतसिंह का देहांत हो गया और मधुकरशाह गद्दी पर बैठे। वे योग्य राजा के अयोग्य वंशधर थे। "...किसी अयोग्य पुरुष का आदर बढ़ गया तथा बिहारी की कविता को समझनेवाला कोई न रहा। तब बिहारी ने उस देश को दुखित होकर छोड़ दिया और महाराज जयसिंह के दरबार में चले आये।" उन्होंने बिहारी की सतसई में से अनेक नीति-परक दोहे उपस्थित किए हैं और लिखा है कि इनका व्यंगार्थ मधुकरशाह की ओर है। एक दोहे में मधुकर शब्द भी आया है। परन्तु इस प्रसंग में उनके तर्क का कोई महत्त्व नहीं है। यदि बिहारी ने ओरछा

२

सतसई-परिचय

सतसई की परम्परा

हमारे साहित्य में मुक्तक की परम्परा बड़ी प्राचीन है। ग्रियर्सन का कहना है कि मुक्तक काव्य मानव-प्रकृति के सत्य के अधिक निकट है। वे इसका कारण यह बतलाते हैं कि बहुत प्राचीनकाल से इस साहित्य का भारतीय ग्राम, उसकी संस्कृति और उसकी भाषा से संपर्क रहा है, नगर के पंडितों के बीच साहित्य के अधिक शास्त्रीय रूप प्रतिष्ठित हुए।[1] यही कारण है कि सब से प्राचीन मुक्तक अपने समय की जन-भाषा प्राकृत में उपलब्ध हुए हैं। इन मुक्तकों को संग्रह के रूप में उपस्थित करने का ध्यान भी बहुत पहले गया। समय-समय पर इस प्रकार के मुक्तकों ने अनेक नाम पाये।

सब से प्राचीन मुक्तक संग्रह "सप्तशतिका" है। पाँचवीं शताब्दी के लगभग हाल ने इसका निर्माण किया। यह प्राकृत भाषा में है। इसमें सात सौ मुक्तक संग्रहीत हैं। इस संग्रह में सात सौ मुक्तक ही क्यों इकट्ठे किए गए, इस सम्बन्ध में हम कुछ

---

1 "One reason of the excellence of these little poems is their almost invariable truth to nature, and the cause of this is that from the first they have been rooted in village life and language, and not in the Pandit-fostering circles of the town."

(Grierson : The Satsai of Bihari, p. 2)

आश्रयदाताओं के यहाँ आने-जाने लगे। सं० १६६१-६२ में आमेर में वार्षिक वृत्ति लेने के लिए गये तो वहाँ महाराज जयसिंह को नवविवाहिता पत्नी के प्रेम में मुग्ध पाया। वहीं उन्होंने अपना प्रसिद्ध दोहा लिखा (नहिं परागु ३८)। इस प्रसंग के बाद बिहारी आमेर दरबार के राजकवि होकर वहीं बस गये।

संस्कृत के कुछ मुक्तकों के नाम इस प्रकार हैं—

सूर्यशतक	(मयूर)	७वीं शताब्दी
चंडीशतक	(बाण भट्ट)	"
भर्तृहरिशतक	(भर्तृहरि)	"
वक्रोक्ति पंचाशिका	(रत्नाकर)	९वीं शताब्दी
देवी शतक	(आनन्दवर्धन)	"
वल्लभ शतक	(भल्लठ)	९वीं शताब्दी या १०वीं श० का आरम्भ काल
सांब पंचाशिका	(सांब)	११वीं शताब्दी
चौर पंचाशिका	×	"
✓आर्य सप्तशतिका	(गोवर्धन)	१२वीं शताब्दी
सुन्दरी शतक वैराग्य शतक वरदराज शतक	(अप्पय दीक्षित)	१६वीं शताब्दी
सभारंजन शतक अन्योपदेश शतक कलिविडम्बना शतक	(अप्पय दीक्षित के पुत्र श्री नील कंठ)	१७वीं शताब्दी
रोमावली शतक	(विश्वेश्वरी)	"
ईश्वर शतक	(अवतार)	"
शिव शतक	(गोकुलनाथ)	१८वीं शताब्दी

इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही संग्रह हैं जिनका समय निश्चित नहीं है। इनमें कुछ प्रकृत भाषा के हैं, कुछ संस्कृत के। डा० ग्रियर्सन ने लालचंद्रिका की भूमिका में इनका उल्लेख किया है। इन संग्रहों के विषयों का अध्ययन करने से पता चलता है कि इनमें निम्नलिखित विषय है—(१) शृङ्गार ; (२) सूर्य, देवी-देवताओं, मतप्रवर्त्तकों आदि की स्तुति; (३) वैराग्य; (४) नीति; (५) रीति-साहित्य—यहाँ मुक्तक अलंकार, रस, ध्वनि आदि

नहीं कह सकते। क्या यह कोई और भी अधिक प्राचीन परम्परा थी, अथवा हाल की सूझ की उपज थी ? परन्तु जो हो, बाद में मुक्तकों का संग्रह इतनी ही संख्या में उपस्थित किया गया। हाल के इस संग्रह की प्रशंसा बड़े-बड़े विद्वानों ने की है।[2]

मुक्तक संग्रहों के तीन नाम प्रमुख रूप से मिलते हैं—पंचाशिका (५० मुक्तकों का संग्रह), शतक (१०० मुक्तकों का संग्रह) और सप्तशतिका या सतसई (७०० मुक्तकों का संग्रह)। इस प्रकार के संग्रहों की परम्परा ५वीं शताब्दी से वर्तमान काल तक चली आती है। जान पड़ता है कि बहुत प्रारम्भिक काल से ही मुक्तकों की लोकप्रियता से प्रभावित होकर संस्कृत में भी मुक्तकों की रचना हुई तथा जन-भाषाओं के संग्रहों के अनुवाद हुए। यह परम्परा भी अभी तक चली आ रही है।

प्राकृत के ज्ञात मुक्तक संग्रह ये हैं—

सप्तशतिका	(हाल)	५वीं शताब्दी
ऋषभ पंचाशिका	(धनपाल)	

अपभ्रंश का केवल एक मुक्तक उपलब्ध है—गाथा सप्तशती जिसके कवि आनन्दवर्धनाचार्य हैं।

---

2 "A collection of tiny masterpieces of art,—village idylls in the smallest imaginable frames."

—Prof. Waber (1866)

"Some as puriely lyrical, and others as resembling the most charming little genre-pictures, proving once more the talent of the Indian for miniature painting."

Dr. Vou Schroeder in Indiens Literatur and cultur, 575

मध्ययुग में सतसई की परम्परा बिहारी-सतसई से प्रारम्भ नहीं हुई जैसा भ्रम हो सकता है। वास्तव में यह परम्परा पहले चल चुकी थी, परन्तु उस समय तक नीति, वैराग्य आदि को ही विषय बनाया गया था। बिहारी से पहले दोहा छन्द में सतसई की परम्परा का आरम्भ हो गया था, 'तुलसी-सतसई' और 'रहीम-सतसई' इसके प्रमाण हैं। परन्तु यह अवश्य है कि शृंगार सतसइयों की परम्परा इस ग्रंथ से ही प्रतिष्ठित हुई। क्योंकि, इससे पहले कोई दोहा ग्रंथ शृंगार विषय पर नहीं मिलता।

बिहारी के पूर्व के हिंदी साहित्य में हमें शृंगार मुक्तक काव्य रहीम के बरवै के रूप में मिलता है। यह बरवै अत्यन्त प्रौढ़ हैं। भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से ये बरवै इतने पुष्ट हैं कि अनुमान होता है कि अवश्य ही लोक-जीवन और साहित्य में इस प्रकार के मुक्तकों की कोई परम्परा चली आती थी, नहीं तो रहीम के नायिका-भेद के बरवै इतने सुष्ठु और स्पष्ट नहीं होते। यह परम्परा इतनी दृढ़ होगी कि उसने तुलसी जैसे संत-कवि को भी प्रभावित किया और उसके हाथ से ऐसे छन्द लिखवा दिये जो वे उसके अभाव में नहीं लिखते। इससे यह भी अनुमान होता है कि दोहों के रूप में भी कोई परम्परा चल रही होगी, नहीं तो बिहारी केवल संस्कृत और प्राकृत के आधार पर इतनी प्रौढ़ रचना नहीं कर सकते थे। जो हो, सतसई की परम्परा को हिन्दी में प्रतिष्ठित करना बिहारी का ही काम था। इनके बाद कितने ही कवियों ने सतसइयाँ बनाईं। इनमें विक्रम सतसई और चन्दन सतसई अच्छी है। अन्य प्रसिद्ध सतसइयाँ हैं— राम सतसई, मतिराम सतसई, रतन हजारा और वृंद सतसई।

एक प्रकार से बिहारीलाल के उत्तराधिकारी हैं। हाल की भाँति उन्होंने भी अपने समय की भाषा में (ब्रज में) रचना

को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण-स्वरूप लिखे गये हैं। वास्तव में इस सूची में भारतीय जीवन के सभी अंग आ जाते हैं। यदि सतसई-साहित्य को एकत्रित किया जाये और कालक्रमानुसार उसका अध्ययन हो तो भारतीय संस्कृति के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा।

परन्तु जहाँ तक हमारा अनुमान है इन मुक्तकों का आरम्भ शृङ्गार से हुआ और शृङ्गार तथा नीति ही प्राकृत मुक्तक काव्य के प्रमुख विषय रहे। जब संस्कृत में मुक्तक बनने लगे तो अन्य विषयों पर भी रचना हुई। यह परम्परा अपभ्रंश में भी चलती रही। अपभ्रंश के जो फुटकर "दूहा" हेमचन्द्रादि में मिलते हैं। उनमें यह परम्परा सुरक्षित है। कहीं-कहीं हेमचन्द्र और संस्कृत कवियों में भावसाम्य मिलता है। कितने ही भाव संस्कृत शृङ्गारी मुक्तकों से लिये गये हैं। यह स्पष्ट है कि संस्कृत के मुक्तक कोष ने अपभ्रंश मुक्तक साहित्य को प्रभावित किया है।

सप्तशतियों में सब से अधिक महत्वपूर्ण हाल की "सप्तशतिका" है। गोवर्धन ने इसी के अनुकरण में १२वीं शताब्दी में "आर्या सप्तशती" लिखी। "गाथा सप्तशती" हाल के संग्रह का ही अनुवाद है। इससे कुछ ही कम महत्वपूर्ण अमरुक का "अमरुक शतक" है जिसका निर्माणकाल १२०० के लगभग है। इसकी भी बड़ी प्रशंसा हुई है।[३]

---

3 "Amru has been excelled by none in the power of drawing a winid living picture in the fewest words possible. Like Heine he defies successful translation."

(*Grierson*)

"It is like decanting champagne—one half of the charm of the original evaporates in the process (of translation.)" (*Macaulay*)

उनमें एक सतसई के मौलिक क्रम के सम्बंध में है। उनके अनुसार विहारी ने अपनी सतसई के दोहों में केवल इतना ही विशेषत्व रखा था कि दस-दस दोहों के अनन्तर एक दोहा नीति-सम्बन्धी या ईश्वर-विनय-सम्बंधी रखा गया था। विहारी सतसई की प्राचीनतम दो टीकाओं (कृष्णलाल की टीका १६६२ ई० और मानसिंह कवि विजयगढ़वाले की टीका (१६७३-१६७७ ई०) में यही क्रम स्वीकार किया गया है। इस क्रम के अनुसार जयसिंह के सम्बन्ध के दोहे अन्त में रखे जाते हैं। स्पष्ट है कि विहारी ने सतसई के दोहों की रचना किसी निश्चित साहित्य-पद्धति को सामने रखकर नहीं की। समय-समय पर जो दोहे लिखते गये उन्हें ही एकसूत्र कर लिया, वोच-वीच में नीति और विनय के दोहे रहें, इसका ध्यान रखा। जहाँ निश्चित स्थान पर ऐसा दोहा नहीं वन पड़ा, वहाँ के लिए आगे जब इस प्रकार का दोहा बन पड़ा निर्देश कर दिया। इस प्रकार सतसई अपने पहले रूप में उपस्थित हुई।

कुछ समय बाद टीकाकारों ने सतसई को विशेष क्रम में वाँधने की चेष्टा की। उन्होंने विहारी के क्रम को नहीं समझा। जिन-जिन टीकाकारों ने क्रम वाँधा उन्होंने उसे क्रमरहित ही समझा—

किए सातसै दोहरा सुकवि विहारीदास
विनुहिं अनुक्रम ए भए महिमंडल सुप्रकास

(कोविद कवि)

जद्यपि है सोभा सहज मुक्ताफल में देखि
गुहे ठौर की ठौर तें लर में होति विसेखि

(हरिजू कवि)

की; उन्हीं तरह वे इस परम्परा के पहले व्यक्ति हैं। उन्हीं की भाँति बिहारी ने भी ७०० छन्द ही लिखे। हम इस तुलना को आगे भी बढ़ा सकते हैं। बिहारी को भी अपने समय और परवर्ती काल में उतनी ही प्रतिष्ठा मिली जितनी हाल को मिली थी एवं लोकप्रिय हो जाने पर उनकी रचना संस्कृत में अनूदित हुई।

बिहारी के दोहों के अध्ययन और पिछले मुक्तककारों से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके सामने तीन ग्रन्थ थे—

सातवाहन की गाथा सप्तशती (प्राकृत)
गोवर्धन की आर्या सप्तशती (संस्कृत)
अमरुक का अमरुक शतक (")

तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों का अंधानुकरण नहीं किया, न उन्होंने उनसे लाभ उठाने की चेष्टा की। हाँ, उनका शास्त्रज्ञान विस्तृत था। इन्होंने इन ग्रन्थों को अवश्य पढ़ा होगा। कहीं तो संस्कारवश प्राचीन कवियों के अनेक भाव आ गये हैं, कहीं जान पड़ता है कि उन्होंने जानबूझ कर किसी प्राचीन भाव को सुधार कर अपना लिया है।

हिंदी के रीतिकाल का अधिकांश काव्य पिष्टपेषण है। फिर भी कुछ कवि मौलिकता लिए हमारे सामने आते हैं। इनमें बिहारी भी हैं। परन्तु हमें बिहारी में विषय की मौलिकता ढूँढने का अधिक प्रयत्न नहीं करना चाहिए। मौलिकता उनके कहने के ढंग में ही अधिक है।

सतसई के दोहों का क्रम

श्री रत्नाकरजी ने अपने बीस वर्ष के परिश्रम के बाद "सतसई" के सम्बंध में अनेक महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किये हैं:

परन्तु क्रम चाहे जो भी रखा जाये अनेक दोहे फिर भी बच रहते हैं। वे बाद में डालने होते हैं। ये हैं सवाई जयसिंह सम्बन्धी, धर्म-सम्बन्धी, राधा-कृष्ण प्रणय एवं भक्ति-सम्बन्धी, दर्शन और नीति-सम्बन्धी। इन्हें किसी क्रम में किस प्रकार अवस्थापित किया जाये? इसलिए कुछ ने विषयक्रम को ही ठीक माना क्योंकि उसको स्वीकार करने से ये सभी दोहे अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत आ जाते हैं। वास्तव में, बिहारी सतसई के अध्ययन के लिए यही क्रम सब से अधिक वैज्ञानिक हो सकता है।

अतः सतसई के दोहों को अनेक प्रकार से क्रमबद्ध करने की चेष्टा की गई है। दो दर्जन अधिक क्रम हमारे सामने आते हैं परन्तु इनमें कुछ ही मुख्य हैं। इन मुख्य क्रमों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१—कुछ टीकाकारों ने विषय-विभाजन करके क्रम-स्थापना करने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए, आजमशाही क्रम (हरिजू कवि की टीका) में दोहे चार भाग में विभक्त हैं। पहले भाग में फुटकर दोहे, चतुर्नायक-वर्णन और नायिका-भेदोपभेद-वर्णन; दूसरे भाग में रस सम्बन्धी दोहे विशेष-विशेष रसों के शीर्षक में रखे गये हैं जिनमें १७० के लगभग विप्रलंभ के अन्तर्गत आते हैं; तीसरे भाग में शिखनख और षट्ऋतु के दोहे हैं; चौथे भाग में नीति, भक्ति आदि के दोहे, जयसिंह-सम्बन्धी दोहे और संदिग्ध दोहे आते हैं। "लालचंद्रिका" (लल्लूजीलाल) के पहले भागों में इसी संस्करण का क्रम रखा गया है, अंतिम चौथे भाग में क्रम कुछ भिन्न है—नीति के दोहे, उक्तियाँ, नवरस के उदाहरण-स्वरूप दोहे, जयसिंह-संबंधी दोहे और अंत में संदिग्ध पद हैं। भावार्थप्रकाशिका, बिहारीविहार, संजीवनभाष्य और शृङ्गार-सप्तशती में भी यही क्रम स्वीकार किया गया है।

जद्यपि है सोभा सहज मुक्तनि तऊ सु देखि
गुहैं ठौर की ठौर तैं लर मैं होति विसेखि

. (पुरुषोत्तमदास)

उन्होंने सबसे पहले नीति और विनय के दोहों को उनके बिहारी निश्चित स्थानों से निकाल-निकाल कर अंत में डाल दिया और शेप शृङ्गारमूलक दोहों के लिए क्रम बैठाने की चेष्टा की। परन्तु इन दोहों को क्रमबद्ध करने में कई कठिनाइयाँ थीं—

(१) इस प्रकार जो दोहे बचे थे उनमें किसी प्रकार का क्रम नहीं था।

(२) कोई प्रेम-कहानी नहीं थी।

(३) कुछ दोहों में राधा-कृष्ण नायक-नायिका का स्थान ले लेते थे; अन्य अधिक दोहों में साधारण नायक-नायिका ही काव्य के विपय थे।

(४) इन दोहों का लगभग ५ प्रकार से सूत्रबद्ध किया जा सकता थाः—(क) नायक के दृष्टिकोण से, (ख) नायिका के दृष्टि-कोण से, (ग) दूती के दृष्टिकोण से, (घ) प्रेक्षक कवि के दृष्टिकोण से और (ङ) सखी-सखी के दृष्टिकोण से।

(५) इनके अतिरिक्त "अकारादि" क्रम से रखने से भी काम चल सकता था।

(६) इन दोहों को कई साहित्य-पद्धति के सहारे भी क्रमबद्ध किया जा सकता था—(क) दोहा-भेद (सतसई के दोहे अनेक ढाँचों का अवलंबन करते हैं, उनके अनुसार), (ख) रस-निरूपण, (ग) अलंकार, (घ) नायिकाभेद। इनमें से (ग) (घ) ही टीकाकारों को अधिक सुभीता के जान पड़े क्योंकि सतसई की अधिकांश टीकाएँ अलंकार या नायिका-भेद अथवा दोनों को दृष्टि में रख कर की गईं।

प्रत्येक मुक्तक का अपना विषय है। उन्होंने साधारण रूप से सतसई के दो विषय माने हैं—प्रेम और भक्ति। उनका दृष्टि-कोण यह है कि वही पद लौकिक प्रेम के हैं, वही कृष्णभक्ति के हैं। परन्तु हम फिर भी यह चेष्टा करेंगे कि सतसई के विषयों का विभाजन दें जिससे उसके महत्त्व का पता चल सके एवं हम जान सकें कि बिहारी ने किन-किन विषयों को स्पर्श किया है।

मोटे रूप से इस विभाजन को इस रूप में उपस्थित कर सकते हैं—

(१) शृङ्गार—संयोग, वियोग, उपालंभ, परकीया, विपरीत रति, गँवारी चित्रण, सौन्दर्याङ्कन।

(२) शांतरस—नीति, भक्ति, दर्शन।

(३) प्रकृति-चित्रण—षटऋतु, उत्सव।

(४) गँवारी-चित्रण, सुरति-सुरतांत आदि विषय।

(५) ऐतिहासिक—अपने सम्बन्ध में, अपने आश्रयदाता के संबंध में। यह एक मोटा विभाजन रहा। सच तो यह है कि ग्रियर्सन साहब का कहना ठीक है। केवल कुछ दोहों को छोड़कर, जिनमें विषय-साम्य है, जैसे नयन-वर्णन, नयन-सैन-वर्णन अथवा नयनोक्तियों के दोहे, अधिकांश दोहों के विषय भिन्न-भिन्न हैं और इस कारण विषय-विभाजन के अनुसार सतसई के दोहे संग्रहीत नहीं हो पाये। "बिहारी बोधनी" (ला० भगवानदीन) में इस तरह का थोड़ा प्रयत्न अवश्य किया गया है, परन्तु वह किसी प्रकार उत्साहवर्द्धक नहीं दिखलाई पड़ता। विषय की इतनी वैभिन्न्यता के कारण ही सतसई के महत्त्व को भली भाँति हृदयंगम करना कठिन हो जाता है।

इस क्रम का एक दूसरा रूप हमें हरिप्रकाश टीका, अमर-चंद्रिका, कोविद कवि की टीका और ज़ुल्फिकार की कुण्डलियों में मिलता है। इसमें पहले नायिकाभेद, नखशिख, अंत में भक्ति, नीति आदि के दोहे—यह क्रम है।

२—कुछ टीकाकारों ने बिहारीसतसई को लक्षण ग्रन्थ का रूप दे दिया है और दोहों को रीतिशास्त्र के उदाहरणों के रूप में ही सामने रखा है। उदाहरण के लिए हम अनवर चंद्रिका ले सकते हैं। यह क्रम भी पुराना है। अनवर चंद्रिका का समय १७१४ ई० है। जहाँ उदाहरण के लिए बिहारी के दोहे नहीं मिले वहाँ टीकाकार ने मतिराम के दोहे रख दिये हैं। कहीं-कहीं अपने दोहे भी रखे हैं। एक लक्षण के उदाहरण के लिए कहीं-कहीं कई दोहे भी रखने पड़े हैं। क्रम यह है—मंगलाचरण, साधारण नायिका-वर्णन, शिखनख-वर्णन, त्रिविधा नायिका-वर्णन, अष्ट नायिका-वर्णन, रूपगर्विता, प्रेम-प्रशंसा, मानिनी-वर्णन, सुरत-सुरतांत-वर्णन, परकीया-वर्णन, दशादशा-वर्णन, सात्विक भाव-वर्णन, मद्यपान वर्णन, हाव वर्णन, नवरस, रसाभास, भावध्वनि भावोदय, भावसंधि, भावसबल-वर्णन, षटऋतु-वर्णन, प्रस्ताविका, अन्योक्ति-वर्णन। मंगलाचरण के बाद १२ प्रकाश तक नायिका-भेद-निरूपण है, १४वें प्रकाश में रस-निरूपण है और १५वें-१६वें प्रकाशों में क्रमशः षट्ऋतु और अन्योक्ति के दोहे हैं। साहित्यचंद्रिका और प्रतापचंद्रिका में भी यही क्रम स्थापित किया गया है।

बिहारी-सतसई का विश्लेषण

सतसई में ७०० से कुछ ऊपर छंद हैं। इनमें विषयों की विभिन्नता है। ग्रियर्सन का कहना है कि सतसई के विषय उपस्थित करने के लिए उन्हें सारी सतसई उद्धृत करनी पड़ेगी, क्योंकि

सकते हैं। इन दोहों को हम दो श्रेणियों में रख सकते हैं—१ कुतूहलवर्द्धक, जिनमें वस्तु अथवा क्रिया के संकेत मात्र से अभीष्ट अर्थ प्रगट किया गया है। जब तक इस संकेत की कुञ्जी हाथ नहीं आती, तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं होते—

लखि गुरु-जन-बिच कमल सौं, सीसु छुवावौ स्याम
हरि सनमुख करि आरसी हियै लगाई बाम

• —रूढ़ि से प्राप्त

इनमें रीति-रिवाज का आश्रय लिया गया है

बिथुर्‌यो जावकु सौति-पग निरखि हँसी गहि गाँसु
सलज हँसौंही लखि लियौ, आधी हँसी उसाँसु



यदि संख्या और महत्त्व की दृष्टि से विचार किया जाय तो विहारी-सतसई में शृङ्गार-सम्बन्धी दोहों की ही प्रधानता है। अन्य विषय प्रासंगिक हैं। श्री रत्नाकरजी ने बिहारी के मूलपाठ का उद्धार कर एक महत्त्वपूर्ण काम किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विहारी प्रेम के साथ भक्ति और नीति को भी सामने रखते हैं और वे यह नहीं चाहते कि वे शृंगारिक कवि मात्र मान लिये जायें। प्रत्येक १०-२० दोहों के बाद एक नीति-सूक्ति अथवा भक्ति-सूक्ति कवि की रुचि की विभिन्नता पर प्रकाश डालती है और यह भी बताती है कि कवि का मूल, सत्य रूप वह नहीं था जो मान लिया गया। इसीलिये विहारी के शृङ्गार को हमें सतर्क से परखना होगा। बिहारी का शृङ्गार-साहित्य कृष्ण-कथा का आश्रय लेकर चलता है यद्यपि सदैव नहीं। कहीं-कहीं, पूर्ववर्ती कवियों से इशारा पाकर विहारी अपने को कृष्ण कथा के क्षेत्र से मुक्त कर लेते हैं। मुरलीलीला[1], दानलीला[2], गोवर्धन गिरिधारन[3], रास[4] आदि कितने ही कृष्णलीला-प्रसंगों को विहारी ने अपने काव्य में स्थान दिया है।

सतसई में कुछ दोहे ऐसे भी हैं जो निःसंशय प्रेम के प्रसंग को हमारे सामने रखते हैं, परन्तु इन्हें हम "कूट दोहे" भी कह

१—लाज गहो, बेकाज कत, घेर रहे, घर जायँ
गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नायँ

२—कितो न गोकुल कुल वधू काहि न किन सिख दीन
कौने तजी न कुल गली है मुरली सुरलीन

३—डिगतिपानि डिगुलात गिरि लखि व्रजजन वेहाल
कंपि किसोरी दरसि के खरे लजाने लाल

४—गोपिन संगति शरद की रमत रसिक रस रास
लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास

कहीं नायिका को स्वेत साड़ी पहराकर वर्ण को वीथिका देकर सामने लाते हैं—

सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छवि होति
जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन जोति

(जैसे श्वेत जल के झरने के पीछे लाल ज्योति जल रही हो)। गौरवर्ण भी विहारी को प्रिय है। कदाचित् वे तारुण्य का संबंध स्वर्ण वर्ण से जोड़ते हैं और गौर वर्ण का कौमार्य से। गौरवर्ण को प्रगट करने के लिए भी वे अत्यन्त सुन्दर वीथिका ढूँढ लेते हैं—गौरवर्ण की नायिका नीला वस्त्र पहरे है।

यह विहारी की नायिका है जो उनके काव्य का आलंवन बनी है। इसके "शिखनख", रंग की स्वच्छता, सुकौमार्य, आभूषण, वयःसंधि, तारुण्य आदि के विषय में विहारी ने एक से एक वढ़कर सूक्तियाँ कही हैं और चित्र गढ़े हैं। विहारी-सतसई के अधिकांश दोहे इन्हीं के सम्वन्ध में हैं। इसके अतिरिक्त आलंवन की विभिन्न चेष्टाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अधिकांश चेष्टाएँ स्वतः चेष्टाओं के सौन्दर्य के लिए चित्रित की गई हैं, उद्दीपन के लिए नहीं। हाव-भाव, हेला, अंगज अलंकारों में हाव के ही चित्र अधिक मिलेंगे। परन्तु अयत्नज (शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य) और स्वभावज (लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिंचित, मोट्टायित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि) का भी वर्णन है। इनमें विलास का वर्णन अधिक है।

हावों के चित्र उपस्थित करने में विहारी ने अत्यन्त उपयुक्त मुद्राओं को ही चुना है। दोहे-जैसे छोटे छंद में किसी विशेष हाव के अंतर्गत सारी चेष्टाओं को स्थान ही नहीं मिल सकता।

३

बिहारी का सौन्दर्याङ्कन-कौशल

बिहारी का साहित्य मुक्तकों के रूप में है। उसका विषय अधिकतः शृंगार है। यह खोज करना अरोचक न होगा कि बिहारी की नायिका का सौन्दर्य क्या है अथवा बिहारी किस सौन्दर्य को आदर्श मानते हैं।

आरम्भ में हम एक महत्त्वपूर्ण बात कहेंगे। बिहारी ने केवल नखशिख से ही सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया है, उन्होंने अधिकतर सौन्दर्य की व्यंजना की है। परन्तु फिर भी नखशिख के सम्बन्ध में उन्होंने कम नहीं कहा है।

बिहारी जिस आदर्श वर्ण की कल्पना करते हैं उसमें श्वेत और स्वर्ण रंग का द्वन्द है जो स्वर्णिम आभा ही अधिक लिये है। इस द्वन्द को प्रगट करने के लिए उन्होंने ताफ़ता रंग (धूप-छाँह—जिस कपड़े में दो प्रकार के रंगों का मेल हो और उनके मेल से दोनों रंगों की झलक लहराती हो) का सहारा लिया है। जहाँ केवल "स्वर्ण" वर्ण की ही छटा दिखलाना है, वहाँ भी वाग्वैदग्ध्य द्वारा वे नायिका के वर्ण का अत्यन्त चमत्कारिक उद्घाटन करना चाहते हैं—कहीं कहते हैं कि नायिका के अंगों में पड़े सोने के आभूषण देखने से पहचाने नहीं जाते, स्पर्श से कठोरता के कारण ही पहचान मिलते हैं

दीनि न परनु समान-दुति कनकु कनक सैं गात
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात

यह रहस्यात्मक आकर्षण का वर्णन है। यद्यपि प्रत्येक अंग को महान् सौन्दर्यमय कहा गया है, परन्तु उन्हें अलग नहीं कहा गया। मन को भँवर की नाव बनाना बिहारी की मौलिक कल्पना है।

इस आकर्षण में जो विवशता है, उसका भी वर्णन बिहारी ने एक दोहे में किया है—

लाज लगाम न मानिहैं नैना मो वस नाहि
ए मुँहजोर तुरङ्ग लौं ऐंचत ही चलि जाहि

यह संघर्षपूर्ण परिस्थिति का सुन्दर चित्रण है।

इस रूप-माधुर्य में अतृप्ति है, उसके आकर्षण के मूल में यही काम कर रही है। नीचे के दोहे में यद्यपि कवि ने श्लेप का आश्रय लिया है, तथापि वह प्रेमो की रूपदर्शन, लालसा और अतृप्ति का सुन्दर चित्र उपस्थित कर सका है—

त्यों त्यों प्यासे ए रहत ज्यों ज्यों पीत अघाइ
सगुन सलोने रूप की जिन चख तृपा बुझाइ

यहाँ 'सलोने' का अर्थ है लावण्यमय। लवण (नमक) तृष्णा को बढ़ता है। रूप को "सलोने" कह कर कवि ने तृष्णा की व्यंजना की है। परन्तु यह अतृप्ति वासनाजन्य नहीं, सौन्दर्य विभ्रमजन्य है। बिहारी की नायिका वास्तव में वासना का अवरोध करती है। यह सौन्दर्य की स्वच्छ और सर्वोत्कृष्ट कल्पना है—

रूपसुधा आसो छक्यो आसो पीत बनेन
पियाले ओठ प्रिया वदन रह्यो लगाए नैन

यह रूप-सौन्दर्य पकड़ में नहीं आता। आँखें लाचार हैं—

लेने हूँ साहस सहस कीने जतन हज़ार
लोयन लोयन सिन्धु तन पेरि न पावत पार

रूपवर्णन कहीं केवल शृङ्गार के लिए, कहीं उद्दीपन के लिए है परन्तु अधिकांश स्थलों पर बिहारी की सौंदर्यनिष्ठा ही उन्हें प्रेरित करती है। अनुभावों की भी अत्यन्त रसपूर्ण सृष्टि प्रचुर मात्रा में बिहारी में मिलेगी, परन्तु उनमें भी कार्य-व्यापार, चेष्टाओं एवं प्रसंग-विधानों के रूप में नवीनता लाने का प्रयत्न किया गया है और कवि उससें सफल हुआ है। ऐसे स्थल बिहारी को हमारे सामने अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से उपस्थित करते हैं।

वास्तव में बिहारी का सौंदर्याङ्कन अत्यंत सूक्ष्म, कुशल एवं विस्तृत है। इसका एक कारण तो यह है कि बिहारी ने नागरी, गँवारी, विभिन्न रंग की नायिकाओं आदि के रूप में बहुत से आलंबन माने हैं, दूसरे उन्होंने वयःसन्धि की अवस्था से लेकर मरण-दशा तक के विस्तृत क्षेत्र को काव्य का विषय बनाया है।

विहारी की सौंदर्य-धारणा दो प्रकार की है :

(१) सौन्दर्य की रहस्यात्मक कल्पना—देखनेवाला प्रेमी विभ्रम और आश्चर्य में पड़ जाता है। वह उसका वर्णन नहीं करता, केवल देखकर ही उसका अनुभव करता रहता है। प्रेमी के लिए प्रेमिका का सौन्दर्य अचरज है। वह केवल अपनी हैरानी प्रगट कर सकता है। यहाँ सौन्दर्य-वर्णन में अङ्ग-प्रत्यङ्ग के दर्शन का अवकाश नहीं। न उत्प्रेक्षा है, न अन्य अलंकार। वह सौन्दर्य आकाश की तरह उन्मुक्त, विशाल और अनिर्वचनीय है—

लाल तुम्हारे रूप की अहो रीत यह कौन
जासों लागत पलकु दृग, लागत पलक पलौन

आँखें खुली रहना कहकर विभ्रम प्रगट किया गया है। इससे यह भी प्रगट होता है कि यह सौन्दर्य पल-पल नूतन है—

फिरि फिरि चितव उतही रहतु टुटी लाज की लाव
अंग अंग छवि-झौंट में भयो भौंर की नाव

अंत में विहारी यह निश्चय करते हैं कि यह सौन्दर्य चित्र के परे है—लिखन बैठि जाकी। इस रूप की अलौकिकता, रंगों-भावों का संघर्ष, आकर्षण, पल-पल नूतनता, चमकचौंध, पल-पल नए नाजोअदा—कवि की लेखनी और चित्रकार की तूलिका को वेकार कर देते हैं। यही सौन्दर्य विहारी का आदर्श है जो चित्रकार, कवि और प्रेमी को एकसा अग्राह्य रहता है। यह सौन्दर्य का वह रूप है जो सदा अस्पष्ट, अलौकिक और रहस्य-मय रहता है। वर्णन द्वारा उसका कोई चित्र उपस्थित नहीं किया जा सकता। उसके द्रष्टा के विभ्रम, आकर्षण, हैरानी, असमर्थता आदि से ही इस सौन्दर्य की अनुपमता, गंभीरता (गहनता) और आश्चर्यमयता (कुहुकता) का पता लगता है। परन्तु यह सौन्दर्य इन सब गुणों को समेटे हुए भी इनमें बँधकर रह नहीं जाता। वह इनसे अधिक है। इनके परे है।

(२) परन्तु विहारी ने नीचे उतर कर, आङ्गिक सौन्दर्य का भी चित्रण किया है जो वाह्यरूप में ही हमारे सामने आता है। यहाँ सौन्दर्य ग्राह्य है, परन्तु फिर भी उसे सहृदय रसिक ही पकड़ सकता है। इसीलिए विहारी शिखनख की परंपरा का पूरी रीति से पालन करते हुए भी सौन्दर्य के प्रभाव-चित्रण की ओर ही अधिक जाते हैं, जैसे इन दोहों में—

भूषण भार सँभारिहैं क्यों यह तन सुकुमार
सूधे पाँव न धर परत सोभा ही के भार
कहत सवे विंदी दिये आंक दस गुनो होत
तिय ललार वेंदी दिये अनगिन होत उदोत
कहा कुसुम, कह मूँदरी, कतिक आरसी जोत
जाकी उवर रई लखै आँख उजैरी होत

जिस सौन्दर्य का भार सँभाले नहीं सँभलता, जिसके देखने से

यहाँ पहले लोयन का अर्थ है लोचन, दूसरे का अर्थ है लावण्य। इस दूसरे अर्थ में लावण्य का प्रयोग साभिप्राय है क्योंकि लावण्य सौन्दर्य का गुण है, उधर सिंधु भी नमकीन (खारा) होता है। अंत में आँखों की विवशता इस प्रकार प्रगट होती है—

इन दुखिया अँखियान को सुख सरजोई नाहिं
देखत बने न देखते बिन देखे अकुलाहिं

हाँ प्रेमी के अत्यन्त तीव्र मानसिक संघर्ष को प्रकाशित किया गया है। सौन्दर्य पूर्णरूप से ग्राह्य नहीं होता, यह दुःख कितना बड़ा है। इस सौन्दर्य की रहस्यमयता का मूल एवं प्रधान कारण उसकी आसक्ति और तन्मयता है। छओ का छाक सबसे बलशाली नशा होता है, सौन्दर्य का नशा इससे भी अधिक है—

डर न वरे, नींद न परे, हरे न काल वपाकु
झीको झकि उझके न फिरि खरो सतमछुइ छाकु

प्रेमी को संसार का सारा रूप प्रेमिका के सौन्दर्य में सिमट आया जान पड़ता है—

तो तन अवधि अनूप, रूप लग्यो सब जगत को
मो दृग लागे रूप, दृगन लगी अति अटपटी

यह सौन्दर्य प्रेमिका को भी प्रेमी का अनुरूप बना देता है। भृंगी-कीट की तरह की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे अधिक सौन्दर्य की रहस्यमयता क्या होगी ? प्रेमी कहता है—

कब की ध्यान लगाउँ लिखि यह घर लगिहै काहु
डरत्यौ भृङ्गी कीट त्यों मति वह एहै जाहि

कवि और भी आगे बढ़कर कीट्स और प्रीरेफलाइट कवियों की भाँति सौन्दर्य की संहारक शक्ति का भी चित्रण करता है—

डारे ठोढ़ी गाढ़ गहि नैन बटोही मार
चलक चौंव में रूप ठग हाँसी फाँसी डार

कहीं-कहीं तो विहारी ने साफ़ ही कह दिया है—

तन भूषण, अंगन दृगन, पगनु महावर रंग
नहिं सोभा को साजयत कहिबे ही कौ अंग

(वह इतनी सुन्दर है कि आभूषण, सुरमा, सज्जा, मेंहदी का रंग उसकी सुन्दरता को नहीं बढ़ाते। वे तो केवल कहने के लिए हैं।)

परन्तु अधिक दोहों में उन्होंने कल्पना की अत्यन्त ऊँची उड़ान से काम लिया जिसके फलस्वरूप कहीं तो देह के रहस्यात्मक सौन्दर्य को प्रस्फुट कर सके हैं जैसे—

अंग अंग छवि की लपट, उपटप जाति अछेह
खरी पातरी ऊनवी लगे भरी-सी देह

(अंगों से छवि की लपट ऊपर उठ रही है। इस कारण उसकी देह पतली है परन्तु फिर भी भरी-सी लगती है। पल-पल में उभरती जवानी और सौन्दर्य का चित्रण है।)

अथवा

चमचमात चंचल नयन, विच घूँघट पटछीन
मानहु सुरसरिताउ मिलि, जुल उछरत जुग मीन

(घूँघट में चमचमाती आँखों का सुन्दर चित्र है)।

परन्तु वहुधा उत्प्रेक्षा ही सब कुछ हो जाती है या कवि की अत्योक्ति की आड़ में नायिका ही छिपःजाती है—

याहि लखैं लोयन लगे कौन जोत की जोत
जाकी तन की छाँह ढिग जौन्ह छांह-सी होत

चमक इतनी अधिक है कि चाँदनी मंद है, इससे नायिका की शरीर-द्युति का कोई स्पष्ट चित्र नहीं वनता।

सौन्दर्य की व्यंजना करने में विहारी जैसे पटु हैं, वह हम ऊपर दिखा चुके हैं। यहाँ हमें कुछ ऐसे उदाहरण देना हैं जहाँ

आँखों में शीतलता और ज्योति आती है, वह सौन्दर्य क्या कम रहस्यमय है ?

इसके अतिरिक्त बिहारी वय:संधि, देहकांति और वस्त्र के द्वन्द्व और भाव-संधि को बार-बार अपनी कविता का विषय बनाते हैं, उनकी रसिकता को ऐसे ही स्थल प्रिय हैं—

सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छवि होत
जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन-जोत
भइ जु छुभी तन सन मिली बरन सकी सौ नैन
आँग-रूप आँगी दुरी आँगी आँग दुरैन

यहाँ अंग से मिल जाने पर एक-एक अंग की चमक से कपड़ा छिप जाता है परन्तु कपड़ों से बदन नहीं छिपता। वय:संधि के सम्बन्ध में उनका "छुटी न शिशुता की झलक" प्रसिद्ध है ही जहाँ उन्होंने धूप-छाँह और वय:संधिकाल का अत्यन्त सार्थक साम्य उपस्थित किया है।

वास्तव में बिहारी के लिए अँग्रेजी के Aesthete शब्द का प्रयोग ठीक होगा। उन्होंने नायिका को सौन्दर्य की प्रत्येक छवि में देखा है और जहाँ देखा है मुग्ध होकर रह गए हैं—

लहलहाति तन तरुनई लछि लग लो लुकि जाय
लगी लंक लोइन भरी लोइन लेति लगाइ

ऐसी परिस्थिति है जहाँ देखने के साथ ही कमर लचक जाती है और उसका लचकना प्रेमी को मुग्ध कर लेता है—

अहे दहेंड़ी जिनि धरै, जिनि तू लेहि उतारि
नीके है छींके छुए ऐसी ही रहि नारि

एक दूसरी परिस्थिति है जहाँ नायिका दोनों हाथ उठाकर सिकहर (छींके) में दहेंड़ी रखती है। ऐसी दशा में नायक उसके तने हुए शरीर और अधखुले पीन पयोधरों को देखकर मुग्ध हो जाता और उसे सदैव उसी परिस्थिति में देखना चाहता है।

४

बिहारी का प्रेम-वर्णन

बिहारी सौन्दर्य के साथ प्रेम के भी कवि हैं। उनके प्रेम का आदर्श कितना ऊँचा है, यह निम्न दोहे से स्पष्ट है—

गिरि तैं ऊँचे रसिक मन बूड़े जहां हजार
बहै सदा पसु नरन को प्रेमपयोधि पगार

(पर्वत से भी अधिक ऊँचे रसिकों के मन जिस प्रेमसमुद्र में हज़ारों की संख्या में डूब गये हैं, वह प्रेमसमुद्र अरसिकों को उथला लगता है।)

सचमुच उच्च श्रेणी के प्रेम का मार्ग सरल नहीं हो सकता। कबीर ने इसे स्वीकार किया है—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं
सीस उतारे भौं धरै सो पैठे इहि मांहिं

इस प्रेम की पूर्णता इसी में है कि प्रेमी और प्रेमिका में कुछ भी अंतर न रहे, दोनों दो तन, एक प्राण हो जायें। बिहारी के ही शब्दों में—

उनको हित उनहीं वनें कोई करो अनेक
फिरत काक-गोलक भयों दुहूँ देह ज्यों एक

बिहारी ने साधारणतः उस प्रेम का वर्णन किया है जिसका आश्रय रूप है। यहाँ हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि बिहारी को रूप-सौन्दर्य बड़ा प्रिय है तथा कृष्णभक्ति में लीला-प्रेम के बाद अथवा उतना ही कृष्ण के रूप-सौन्दर्य-प्रेम का भी स्थान

बिहारी ने रूप-व्यंजना के साथ-साथ रसिकता का पुट भी दिया है। बिहारी दरबारी कवि थे। वे युग के साथ-साथ चलते थे। आदर्श और लोक-मर्यादा से उनका उतना ही सम्बन्ध था जितना तुलसीदास का शृङ्गार-रस से। अतएव वे ऐसे स्थल नहीं छोड़ सके जिनसे वे अपनी सौन्दर्य-प्रेमी आत्मा को तृप्त करें। ऐसा एक स्थल देखिए—बहू को छोटे हाथों वाली समझ कर कंजूस ससुर ने भीख देने का काम उसे सौंपा; सोचा होगा, मुट्ठी भर-भर कर देगी भी तो आखिर कितना अनाज आवेगा। परन्तु बहू के रूपदर्शन के लालच से संसार भर के पुरुप द्वार पर भीख माँगने आने लगे—

कन देवो सोंच्यो ससुर बहू थुरहथी जानि
रूप रहंचटे लगि लग्यौ माँगन सबु जग आनि

प्रसंग बहुत सुन्दर नहीं है, परन्तु बिहारी की रसिकता नीति का आलंबन लेकर चलती ही कब है !



वहके सब जी की कहत ठौर कुठौर लखैन
छिन औरे छिन और से ये छवि-छाके नैन

उस समय प्रिय की प्रत्येक वस्तु उसके लिए आलंवन वन जाती है—

ऊँचै चितै सराहियत गिरह कबूतर लेतु
झलकत दृग पुलकित वदनु, तनु पुलकित, किहिं हेतु

और प्रेम का कष्ट कष्ट नहीं रह जाता, वरन् प्रेमपात्र के विरह-दुख में ही प्रेमी के प्राण रहते हैं—

इहि काँटै मो परइ गड़ि लीनी मरति जिवाइ
प्रीति जतावत मीति सौं मीत जुकाढ्यो आइ

विहारी इस मानुषी प्रेम की उच्च तन्मयासक्ति की दशा की कल्पना करते हैं जव प्रिय में तल्लीनता इतनी वढ़ जाती है कि प्रेमी अपने में ही प्रेमपात्र का आरोप कर लेता है—

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही है नारि
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि

इससे ऊँचा प्रेम क्या होगा ?

विहारी के प्रेम-संवंधी दोहों और उक्तियों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम के सम्वन्ध में उनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। प्रेमी पहले सौन्दर्य से आकर्षित होता है। वह रूप-रस-गंध (इन्द्रियों के विषयों) पर मुग्ध हो जाता है। उसके प्रेम में वासना का प्राधान्य है। परन्तु धीरे-धीरे वह प्रेम भीतर प्रवेश कर जाता है। वह ऐसी वस्तु नहीं रहता जिसका आधार वाह्यरूप ही हो। फिर वही प्रेम प्रेमी का सर्वस्व हो जाता है। उसी में उसकी सारी आकांक्षाएँ केन्द्रित रहती हैं।[१] उसकी

---

१ छला छवीले छैल को नवल नेह लहि नारि
चूमति, चाहति, लाय उर पहिरति, धरति उतारि

था। उनकी त्रिभंगी छवि में रूप-सौन्दर्य की पूर्णता है। इस रूप-माधुरी से आकर्षित मन की दशा का वर्णन बिहारी सतसई में कई बार आया है—

डर न टरै, नींद न परै, हरे न कालविपाक
छिन छाकै उछकै न फिरि खरौ विषय छवि-छाक

फिर फिर चित उतही रहत टुटी लाज की लाव
अंग अंग छवि भौंर में भयो भौंर की नाव

इस प्रेम में विचित्रता और विवशता का भी प्रमुख स्थान है।

क्यों वसिए, क्यों निबहिए, नीति नेहपुर नाहिं
लगालगी लोचन करैं नाहक मन बँध जाहिं

छुटक न पैयतु छिनिक बसि नेह नगर यह चाल
मारयो फिरि फिरि मारिए खूनी फिरत खुस्याल

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रँग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय

बिहारी ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह दृढ़ प्रेम है। वह क्षण-क्षण परिवर्तित नहीं होता। उसमें ऐन्द्रियता नहीं है। वह भीतर तक प्रवेश कर जाता है—

सब ही तन समुहाति छन चलति सबन दै पीठि
वाही तन ठहराति यह किबुलनुमा लौं दीठि

इस प्रेम को संदेह, ईर्ष्या, द्वेष, संसार-भय कोई भी नहीं मिटा सकता—

खल बढ़ई बल करि थके करै न कुवत कुठार
आलबाल उर झालरि खरी प्रेम-तरु-डार

इस प्रेम की चरमावस्था पर पहुँच कर प्रेमी की यह दशा होती है—

के ध्यान-दर्शन में लवलीन रहता है। यही उसके लिए इतना वास्तविक है कि प्रत्यक्ष दर्शन है।[९]

परन्तु क्या वाह्य रूप-रंग ही सब कुछ है? बिहारी रूप-रंग और सौन्दर्य के चितेरे होते हुए भी उनकी असारता जानते हैं। सौन्दर्य वस्तु में नहीं होता, चाहनेवाले के मन में होता है, बिहारी जैसे रसिक के लिए यह समझना कठिन नहीं। वे कहते हैं—कौन जाने, कोई किसी को कब सुन्दर लगने लगे। मन की भावना है, जहाँ एक बार प्रेम उत्पन्न हुआ कि सुन्दरता बढ़ी—

समै समै सुन्दर सबै रूपकुरूप न कोय
मन की रुचि जेती जितै तितै तिती छवि होय

विरह-वर्णन

बिहारी का विप्रलंभ काव्य भी विशद है। उसमें रूढ़ि और परंपरा का अधिक प्रभाव पड़ा है। फ़ारसी के साहित्यिक वातावरण का प्रभाव भी दृष्टिगोचर है। इन्हीं कारणों से उनकी विरह-सम्बन्धी उक्तियाँ अधिकतर ऊहात्मक हो गई हैं। विरह-वर्णन में बिहारी ने चमत्कार, वक्रता[१०], व्यङ्ग, अतिशयोक्ति और अत्युक्ति का आश्रय लिया है। उनका पद-विन्यास भी वातावरण सृष्टि में सहायता देता है। उदाहरण के लिए, विरहताप की प्रबलता के सम्बन्ध में कई अतिशयोक्तियाँ मिलेंगी—

सीरे जतननि सिसिर रितु सहि बिरहिन-तन-ताप
बसिबे को ग्रीषम दिननि पर्यो परोसिनि पाप

आड़े दै आले बसन जाड़े हू की राति
साहस कै कै नेह बस सखी सबै ढिग जाति

---

९ ध्यान आनि ढिग प्रान पति, मुदित रहत दिन राति
पल कम्पति, पुलकति पलक, पलक पसीजति जाति

१० "शैली का बांकपन"

प्रत्येक वस्तु उसे प्रिय हो जाती है। उसकी उड़ाई हुई पतङ्ग की छाया पाने को भी प्रेमी दौड़ता है।[२] उसकी दशा चकई की तरह हो जाती है।[३] जैसे-जैसे विरह काट करता जाता है, समय बीतता है, वैसे-वैसे प्रेम दृढ़ होता जाता है।[४] प्रेमी के प्राण प्रेम-पात्र के हाथ में चले जाते हैं।[५] मन, वचन, कर्म, आत्मा—कुछ भी उसका नहीं रहता, वह सम्पूर्ण रूप से प्रेमपात्र को समर्पित हो जाता है।[६] उसको यह दृढ़ निश्चय रहता है कि प्रेमी उसकी बात समझता है। इस उच्च दशा तक पहुँच कर सँदेश (पत्र) का स्थान ही नहीं रह जाता। हृदय स्वयम् संदेशवाहक हो जाते हैं।[७]

इस अवस्था में यदि प्रेमपात्र से उसकी भेंट हो गई तो वह उसी को देखता है, उसी के विषय में श्रवण करता है, उसी का चिंतन करता है।[८] परन्तु यदि प्रेमपात्र की भेंट संभव भी नहीं हो, तो भी प्रेमी को कोई चिंता नहीं। वह प्रत्येक क्षण प्रेमपात्र

२ उड़ति गुडी लखि ललन की अँगना अँगना माँह
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह

३ इत हैं उत, उत हैं इतै, छिन न कहूँ ठहराति
जरु न परत चकई भई फिर आवति फिर जाति

४ करत जात जेती कटनि, बढ़ि रस सरिता सोत
आलबाल उर प्रेम तरु तितौ-तितौ दृढ़ होत

५ मन न धरति मेरो कह्यो तू आपने सयान
अहे परनि पर प्रेम की पर-हथ मारन-प्रान

६ कहा भयौ जो बीछुरे मो मन तो मन साथ
उड़ी जाति कितऊ गुडी तऊ उड़ायक हाथ

७ कागद पर लिखत न बनत कहति सँदेश लजात
कहिहै सब तेरो हियो मेरे हिय की बात

८ "तत्प्राप्य तदेवालोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति"
(नारद भक्तिसूत्र)

नीति हंसौ हंसो वचतु मानौ इहि अनुमान
विरह अगनि लपटनि सकै झपट न मीच सियान

मरने की चेष्टा करने पर भी नायिका मर नहीं पाती—

मरिबै को साहस कियो बढ़ी विरह की पीर
दौरति है समुहै ससी सरसिज सुरभि समीर

स्पष्टतः, इन दोहों में चमत्कार की प्रवृत्ति ही अधिक है। जैसा हम ऊपर कह आये हैं यह उस युग का तथा विदेशी साहित्य का प्रभाव है। इस प्रकार के दोहों को हम इस तरह श्रेणीबद्ध कर सकते हैं—

(१) कृशता-सम्बन्धी दोहे—हवा के साथ हिलना, मौत का ढूँढ न पाना।

(२) ताप-सम्बन्धी दोहे—पत्रिका का हाथ लगते जल जाना, लुओं का चलना, इत्र का शीशे से गिरते ही भाप बन जाना।

(३) निश्वास में झूले-सा झूलना।

(४) आँसू की नदी वहा देना।

बिहारी की ये विरह-वर्णन संबंधी सूझें मुसलमानी प्रेम-कविता की परंपरा से प्रभावित हैं। उस समय दरबारों में फ़ारसी भाषा का प्रभाव था और बिहारी का अपने वातावरण से प्रभावित हो जाना असंभव नहीं हो सकता। फिर बिहारी जिस मुक्तक कविता (गाथा, आर्या, अमरुक शतक) को आदर्श बनाकर चले थे, अन्तरंग और बहिरंग दोनों की दृष्टि से वह मुसलमानी कविता के बहुत निकट पड़ती थी।

मुसलमानी कविता की शैली भी मुक्तक है। छंद का नाम गजल है। प्रत्येक गजल में पाँच, सात, नौ, ग्यारह अथवा पंद्रह शेर होते हैं। प्रत्येक शेर में दो चरण (मिसरे)। गजल में कई प्रकार के छंदों का प्रयोग होता है। भाषा में काफ़ी वैभिन्न्य है।

औंधाई सीसी सुलखि विरह वरति बिललात
बीचहिं सूख गुलाब गो छीटौं छुई न गात

जिहि निदाघ दुपहर परे भई माह की राति
तिहि उसीर की रावरी खरी आवरी जाति

वियोगिनी के लिए प्राकृतिक गुण भी उलटे हो जाते हैं—

हौं ही बौरी विरह बस कै बौरो सब गाम
कहा जानि ये कहत हैं ससिहि सीतकर नाम

प्रिय के वियोग में वह इतनी कृश हो जाती है कि—

इत आवत चलि जात उत चली छ-सातिक हाथ
चढ़ी हिंडोरे में रहै लगी उसांसनि साथ[११]

यह कृशता की पराकाष्ठता हुई। नायिका इतनी बदल जाती है कि सखियाँ कठिनता से पहचान पाती हैं या किसी विशेष संकेत आदि से ही पहचान पाती हैं—

करके मीडें कुसुम लौं गई विरह कुम्हिलाय
सदा समीपिनि सखिनिहूँ नीति पिछानी जाय

मौत को वह दिखलाई नहीं पड़ती या मौत उस तक किसी प्रकार पहुँच ही नहीं सकती—

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छोंडतु नीच
दीने हूँ चसमा चखनि चाहै लखै न मीच

---

११ श्राता तथा तानवभङ्गाष्टि
स्तव द्विप्रियगेण कुरङ्ग दृष्टेः
यत्ते गृहस्तम्भ निवर्तितेन
कम्प यथा श्वास समीरणेन
(बिल्हण : विक्रमाङ्क देवचरित)

विरह विपति दिन परत ही तजे सुखनि सब अङ्ग
रहि अब लौं व दुखौ भले चलाचली जिय संग
मरन भलौ वरु विरह तें यह विचार चित जोय
मरन छुटै दुख एक को विरह दुहूँ दुख होय
चलत चलत लौं ले चले सब सुख-संग उगाय
ग्रीषम वासर सिसिर निशि पिय मो पास बसाय१२
मैं लै दयौ लयौ सुकर छुवत छनक गौ नीर
लाल तिहारो अरगजा उर ह्वै लग्यो अवीर१३

कहीं-कहीं स्वाभाविकता और अतिश्योक्ति का इतना सुन्दर मेल हुआ है कि देखते ही बनता है—

सुनत पथिक मुँह माह निसि लुएँ चलति उहि गाम
किनः बूझे बिनही सुने जियति विचारी बाम

इस प्रकार हम देखते हैं कि विहारी के प्रेम का रूप अत्यंत सुन्दर एवं परिष्कृत है, यद्यपि कहीं-कहीं वह अपने ऊँचे स्थान से गिर भी जाता है। ऐसा केवल वहीं होता है जहाँ विहारी अपने व्यक्तित्व से हट जाते हैं अथवा वाह्य प्रभावों से प्रभावित हो जाते हैं। ये प्रभाव तीन हैं—

---

१२ अहो अहोंनिर्भहिमा हिमागमे
ऽप्यभि प्रपेदे प्रति ता स्मरार्दिताम्
तपर्तु पूर्तायपि मंद सांभरा
विभावरी निर्विभरा बमूविरे
(श्रीहर्ष—दमयंती का विरह-वर्णन)

१३ घेत्तूण चुराण मुट्ठि हठि सूससि आए वेपमाणाए
भिसणे भित्ति मियअयँ हत्थे गन्धोदअं जाअम्
(गृहीत्वा चूर्ण मुष्ठि हर्षोत्सुकिताया वे पयानोयाः
अवकिरमीति प्रियतम हस्ते गन्धोदकं जातम्।

कुछ कवियों ने सीधी-सादी भाषा में प्रेम की वेदना का चित्रण किया है। परन्तु अधिकांश में भाषा की वक्रता और अलंकारिक प्रयोग पाये जाते हैं। परन्तु ऐसे स्थलों पर भी भाषा की सफ़ाई को हाथ से नहीं जाने दिया जाता और मुहावरों का प्रचुर प्रयोग उस काव्य को सर्वसुगम वना देता है।

अंतरंग की दृष्टि से मुसलमानी प्रेम-कविता विरह या विप्रलम्भ प्रधान है। विरह-संबंधी उक्तियों में चमत्कार, अतिशयोक्ति, सूक्ष्मता से काम लिया गया है। सैकड़ों शैर प्रेमी की कृशता के संबंध में मिलेंगे। वाग्वैदग्ध्य और नाटकीयता को भी स्थान मिला है। विरह की जलन और तीव्रता की व्यंजना के लिए प्रकृति को प्रेमी की निगाहों से देखा गया है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, कवि उसे उद्दीपन के रूप में ही सामने लाता है। प्रकृति के स्वतंत्र चित्र वहुत कम हैं, जो हैं भी वे रूढ़ि से प्रभावित। भावपक्ष जहाँ एक ओर सूफ़ी प्रेम से प्रभावित है, वहाँ दूसरी ओर लौकिक प्रेम से। सूफ़ी कविता में प्रेम के ख़ुमार या नशे (मद) का विशेष स्थान है। इसलिए फ़ारसी साहित्य में इस प्रकार के अनेक शैर मिलेंगे। सूफ़ी लोगों का प्रेमिका (माशूक) परमात्मा होता था। उन्हें आत्मा की कठोर साधना और कठोरतर विरह-वेदना को इंगित करना था। इस कारण इन्होंने एक नई शैली की कल्पना की जहाँ प्रेमिका अत्यंत कठोर है, और प्रेमी पद-पद पर बलिदान करता है। प्रेमिका की यह कठोरता सूफ़ी काव्य की विशेषता है परन्तु पारलौकिक इंगित के कारण यह अस्वाभाविक नहीं लगती। परन्तु जहाँ इस प्रकार का संदर्भ उपस्थित नहीं होता, वहाँ अस्वाभाविक और हास्यास्पद हो जाती है।

परन्तु विरह-दशा के ऐसे वर्णन भी मिलते हैं जहाँ विहारी ने स्वाभाविकता को हाथ से जाने नहीं दिया—

में स्थान है, परन्तु सभी प्रकृत वातों को काव्य का विषय वनाया जाय, यह आवश्यक नहीं है। तीसरे, उस पर "गाथा" और "दोहा" अपभ्रंश-प्राकृत साहित्य का प्रभाव है जिससे नागरिकता से हटकर कवि सामान्य ग्राम्य जीवन की ओर मुड़ आये थे—

दृग थिरकौहैं अधखुलैं देह थकौहैं ढ़ार
सुरत-सुखित-सी देखियति दुखित गरभ के भार ६९२

ण विरह अइगरुएण वि तम्मइ हिअए भरेण, गवमए
जह विपरीअरित हुअणं पिआम्मि सोहग अपावन्त।
(गाथासप्तशती ५—८३)

चौथा प्रभाव है तात्कालीन साहित्यिक आन्दोलन का जिसके कारण श्रृङ्गार रस के भावों को अलंकार-निरूपण और नायिका-भेद का ढाँचा भरने के लिए उपस्थित किया जाता था। यह अवश्य है कि विहारी ने अपने दोहों को अत्यंत स्वतंत्रता से वनाया और वनाते समय किसी रीतिपरंपरा से वद्ध नहीं हुए, परन्तु कुछ दोहों में अवश्य नायिका-भेद और अलंकार-निरूपण उनके लक्ष्य रहे हैं।

३—फ़ारसी साहित्य का प्रभाव—

फ़ारसी साहित्य के प्रेम-निरूपण का प्रभाव कुछ दोहों में है। इन दोहों में विहारी भारतीय संस्कृति से हट गये हैं, यह प्रभाव विशेप रूप से विरह-वर्णन पर पड़ा है।

१—तत्कालीन परिस्थिति का प्रभाव—

बिहारी के युग की रुचि दूषित हो चुकी थी। "कली अली सों बिंध रह्यौ"—यह दोहा उस समय की मनोवृत्ति का ठीक-ठीक चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। इस शृङ्गार रुचि के अस्वस्थ होने का प्रभाव बिहारी की रचना पर स्पष्ट रूप से लक्षित है, जैसे इस दोहे में—

लरिका लैबे कै मिसनु लंगर मों ढिग आइ
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैलु छुवाइ

२—साहित्य-परम्परा का प्रभाव—

साहित्य परंपरा का प्रभाव कई ढङ्ग से बिहारी-सतसई में आया है। एक, उसमें शृङ्गार के रसराजत्व पर इतना बल दिया गया है कि अन्य रसों की उपेक्षा ही नहीं की गई है, उन्हें उसके मेल से दूषित बना दिया गया है। प्रमाण यह दोहा है—

बिहँसि बुलाइ बिलोकि उत प्रौढ़ तिया रस घूमि
पुलकि पसीजिति पूत कै पिय-चूम्यौ मुख चूमि

जिसमें वात्सल्य से शृंगार की उद्भावना की गई है। दूसरे, उसमें प्राचीन साहित्यपद्धति को आधार मानकर सुरतारम्भ, सुरतांत, विपरीतरति, गर्भिणी आदि के चित्र उपस्थित किये गये हैं। यद्यपि बिहारी ने इन प्रसंगों के अवसरों पर अत्यंत संयम से काम लेना चाहा है परन्तु वे स्पष्ट ही सफल नहीं हुए हैं। वे काजल की कोठरी में घुसे हैं, इसीसे वे बिना "लीक लगे" नहीं रह सके। सूरदास के काव्य में सुरत और विपरीत का वर्णन है परन्तु उस पर आध्यात्मिकता के आरोपण की चेष्टा की गई है, इससे उसके दूषणों का परिहार हो जाता है। बिहारी का काव्य प्रकृत-काव्य है। यद्यपि सुरत और विपरीत का भी प्रकृत जीवन

के विधान में दिखाई पड़ता है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुन्दर योजना कोई भी शृंगारी कवि नहीं कर सका है।"

विहारी का हास-परिहास

पीछे हम कह चुके हैं कि विहारी-सतसई में हास-परिहास की अधिक सामग्री है—

वहु धन लै अहिसान कै पारो देत सराहि
वैद वधू हँसि भेद सों रही नाह मुख चाहि

कोई वैद्य जो स्वयम् नपुंसक था किसी से वहुत-सा धन लेकर और अहसान जताकर वहुत प्रशंसा करता हुआ पारद-भस्म दे रहा था जिसके सेवन से रोगी प्रवल पुरुष-शक्ति-सम्पन्न हो जायगा। इस वात को देखकर उस वैद्य की स्त्री मर्मयुत हँसी हँसी—कि तुम स्वयम् क्यों नहीं खा लेते—और अपने पति के मुँह को देखती रह गई।

परतिय दोष पुरान सुनि लखी मुलकि सुखदानि
कस करि राखी मिश्र हू मुँह आई मुसकानि

पुराणवाचक को किसी परकीया से प्रेम था। आप कथा वाँच रहे थे। श्रोताओं में व्यासजी की प्रियतमा भी थी। प्रसंगवश कथावाचक ने परस्त्रीगमन के दोषों का वर्णन किया। नायिका ने आँखों में हँसकर पुराणवाचक की ओर देखा। परिस्थिति समझ कर पुराणवाचक को भी हँसी आ गई परन्तु उन्होंने जैसे-तैसे अपनी मुस्कराहट रोक ली।

चितु पितुमारक जोग गुनि भयो भये सुत सोग
फिरि हुलस्यो जिय जोयसी समुझयो जारज-जोग

किसी ज्योतिषी के पुत्र हुआ। पिता ने कुण्डली देखी जो पितृघातक योग निकला जिससे उसका हृदय शोक से भर गया। फिर कुण्डली देखी। अव की वार पता चला कि जारज जोग

५

बिहारी-सतसई की काव्य-सम्पत्ति

रस

बिहारी सतसई प्रधानतः शृंगारग्रंथ है परन्तु उसमें हास्य और शांत रस की रचनाएँ भी मिलती हैं—

बहुधन लै अहिसानु कै पारौ देत सराहि
बैद बधू हँसि भेद सौं रही नाह मुँह चाहि
नित · पितुमारक जोगु गुनि भयौ भये सुत सोगु
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी समझै जारज जोगु

ऐसे कुछ और दोहे भी हैं परन्तु इन दोहों का हास्य उच्च श्रेणी का नहीं है, और वह मूलतः शृङ्गार भावना से ही परिचालित हुआ है। शांतरस-सम्बन्धी दोहे अवश्य शृंगार से मुक्त हैं और उनमें "भक्ति", "वैराग्य" आदि के भावों को बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकाशित किया गया है।

अर्थ से पुष्ट होना चाहिये क्योंकि—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् (ध्वन्यालोक १ । ४)

(जिसमें प्रतीयमान अर्थ से युक्त काव्य निर्माण करने की शक्ति है, वही महाकवि कहलाने का अधिकारी है)

स्पष्ट है कि इस दृष्टि से छंद का चुनाव महत्त्वपूर्ण हो जाता है। प्राकृत कवियों ने मुक्तक रचना के लिए "गाथा छंद" चुना। गोवर्धनाचार्य और संस्कृत के अनेक मुक्तककारों में "आर्या" छंद को भाववाहन का माध्यम वनाया। अमरुक ने "शार्दूलविक्रीडित" छंद पसन्द किया। इन छंदों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वड़े-वड़े छन्द थे और इनमें भावपुष्टि एवं रसपुष्टि के लिए उतना कष्ट नहीं हो सकता जितना "दोहा" छन्द में, जिसे विहारी ने चुना। २४ मात्राओं के इस छोटे से छंद में एक ऐसी चीज उपस्थित कर देना जो तीन शताब्दियों से साहित्य-प्रेमियों के गले का हार वनी है एक आश्चर्य का विषय है। इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया लिखता है—

"Daintiet piece of Art. Each verse (of 46 Syllables) has in itself a miniature description of a mood or a phase of Nature, in which every touch of the brush is exactly the needed one, and not one is suferfluous."

इसी तरह 'लालचन्द्रिका' की भूमिका में डा० ग्रियर्सन कहते हैं—

"Each couplet is complete in itself, and......none of them can contain more than 48 syllables, while many of them contain only twenty-six. Each verse must be one whole—an entire picture-frame and all. These facts will give some idea of the skill necessary for success in this most delicate miniature painting."

भी था अर्थात् लड़का उसकी सन्तान नहीं है, किसी अन्य पुरुष से उत्पन्न हुआ है। ज्योतिषी को हर्ष हुआ कि चलो जान बची।

साधारण दृष्टि से देखने पर इन दोहों में ग्राम्यदोष आ जाता है परन्तु जब हम युग की वीथिका में रखकर देखते हैं तो बिहारी की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। इन दोहों में बिहारी की तीव्र दृष्टि ने सामाजिक शिथिलता को देखा है और उस पर कटाक्ष किया है। बिहारी का क्षेत्र शृङ्गार था, अतः उनकी दृष्टि समाज के इसी क्षेत्र की शिथिलता की ओर गई।

पहले और तीसरे दोहे में भारतीय दाम्पत्य जीवन और विवाह की संस्था पर आघात किया गया है। दूसरे दोहे में मनुष्य की दुर्बलता और उसके प्रकृत एवं सामाजिक व्यवहार के वैषम्य का चित्रण है।

छन्द

बिहारी-सतसई मुक्तक शैली में है। इस शैली की परिभाषा अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार दी है—"पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वण क्रियते तदेवव मुक्तकम्" अर्थात् अगले-पिछले पदों में जिसका सम्बन्ध न हो, अपने विषय को अकेला ही प्रगट करने में समर्थ हो, ऐसे पद्य को मुक्तक कहते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य का कहना है—"एक ग्रन्थ में जिस रसस्थान का पूर्ण प्रबन्ध कवि को करना होता है, वही बात उसे एक मुक्तक में लाकर रखनी होती है।" वास्तव में यह शैली बड़ी कठिन है। गागर में सागर भरना है। एक ही पद्य में अनेक भावों और रस का समावेश सरल नहीं। उस पर कवि जहाँ भाव देना चाहता है, वहाँ भी उसे यह चिंता लगी रहती है कि रस को अक्षुण्णता बनी रहे। इसलिए उसे अभिधा का सहारा छोड़ देना होता है। अभिधा उसे अधिक दूर नहीं ले जाती। वह ध्वनि या व्यंजना से अधिक काम लेता है। उसके काव्य को प्रतीयमान

(१) ८+३+२ ; ८+३

(पहले चरण के गण ताल न हों, न दूसरे के ध्वज हों)

(२) ६+४+३ ; ६+२+३

(पहले चरण के गण ताल हों ; न दूसरे के ताल हों)

(३) ६+४+३ ; ६+४+१

(यह निश्चित रूढ़-रीति है। अधिकांश दोहे इसी ढाँचे में ढले मिलेंगे।)

(४) ६+४+१+२ ; ६+४+१

इनमें कोई भी ढाँचे बिहारी के सारे दोहों पर ठीक नहीं बैठते। अलबत्ता, रत्नाकरजी ने एक नई पद्धति बतलाई है—

८+३+२ ; ८+ऽ।

ग्रियर्सन इसकी व्याख्या यों करते हैं—

"In the first group of eight, in each चरण the fourth and fifth, and the sixth and seventh ' instants, cannot be both combined at the same time into two long syllables. That is to say the first eight may not be ⌣ ⌣ ⌣ — ⌣. They may be ⌣ ⌣ ⌣ ⌣ ⌣ ⌣ ⌣ ⌣ or ⌣ ⌣ ⌣ ⌣ ⌣ ⌣ ⌣ ⌣ but the fourth to the seventh instants may not be a spoudees (— —) or करण।

यही पद्धति सभी दोहों पर लागू हो जाती है।

२४ मात्राओं का छंद जिसमें २४ से ४६ अक्षर तक आ सकते हैं, उसमें भी मात्राओं की मैत्री और शास्त्रीय भेदों पर विचार—यह था वह माध्यम जिसे बिहारी ने अपनी कला और कविता के प्रकाशन के लिए चुना। इसलिए उन्हें थोड़े अक्षरों में बहुत कह डालने की चेष्टा करनी पड़ी। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने समास-पद्धति का प्रयोग किया जिसने उनकी कविता का रूप ही बदल दिया। उसमें व्यंजना को प्रमुख स्थान मिला। भावों,

निश्चित है कि ... ारों को सामने रखकर
"सतसई" ... कुछ कवियों के संबंध में
कहा जा स ... क्षणग्रन्थ लिखे या अलंकारों
के आधार ... ओं की रचना की। यह इस तरह
भी सिद्ध हो ... ितने ही अलंकारों के विषय में
सतसई मौन ... बिहारी-सतसई के दोहे अलंकारों के
उदाहरण के र ... होत हुए हैं, वहाँ उन अलंकारों के स्थान
पर "मतिराम" ... हे रखने पड़े हैं। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, बिहारी ने दोहों की रचना केवल अलंकारों की योजना के लिए नहीं की, परन्तु कुछ दोहे ऐसे अवश्य मिल जाते हैं जिनमें बिहारी का लक्ष्य वर्णन-विषय नहीं, अलंकार है, जैसे—

खौरि-पनिच, भृकुटी धनुषु, बधिकु समरु, तजि कानि
हनतु तरुन-मृग तिलकसर सुरक भाल, भरि तानि १०४

यहाँ सांगरूपक ही ध्येय है—

रस शृंगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन
अंजनु रंजनु हूँ बिना, खंजनु गंजनु नैन ४६९

यहाँ अनुप्रास के चमत्कार को ही अपना लक्ष्य बनाए हुए हैं नहीं तो "मंजनु", "कंजनु", "भंजनु", "अंजनु", "रंजनु", "खंजनु", "गंजनु" को एक ही दोहे में बटोर लाने की क्या आवश्यकता थी ?

परन्तु जहाँ स्पष्टरूप से कवि अलंकार पर आश्रित होकर नहीं चला है, वहाँ भी प्रसंगवश अलंकार-विधान की आवश्यकता पड़ ही गई है। भाव को भलीभाँति हृदयंगम कराने के लिए श्रेष्ठ कवि अलंकार का आश्रय लेते हैं। यह स्वाभाविक ही है। दोष वहाँ है जहाँ कवि केवल चमत्काररूप में अलंकारों का प्रयोग करता है—जहाँ अलंकार में अलंकार्य वस्तु छिप जाती है।

बिहारी के दोहों में उपमा-उत्प्रेक्षा का प्रयोग बड़ी मात्रा में

चेष्टाओं और कार्यों को इतनी तीव्रता और चुस्ती से चलाना पड़ा कि देखते ही बनता है। एक चित्र है—

डिगत पानि, डिगुलाति गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल
कम्पि किसोरी दरसि कै खरै लजाने लाल

इसमें एक पूरे प्रसंग को, कई कार्यों और मानसिक प्रतिक्रियाओं को २४ मात्राओं में बंद कर दिया गया है। परन्तु साथ ही रस और अलंकारों को भी अक्षुण्ण बनाए रखना पड़ा—

कौडा आँसू बूँद, कसि साँकर बरूनी सजल
कीने बदन निमूँद, दृगमलिंग डारे रहत

इस दोहे में इतने बड़े साङ्गरूपक का निर्वाह किया गया है। परन्तु बिहारी की सर्वोच्च कला के दर्शन उस समय होते हैं जहाँ वे संघर्षपूर्ण मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों को हमारे सामने रखते हैं—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति
परति गाँठि दुरजन हियै, दई, नई यह रीति

यह समास-पद्धति बिहारी की भाषा और व्यंजना कला के विकास में सहायक हुई है। उसके लिए भाषा-सौष्ठव, भाषा की चुस्ती, शब्दों के चुनाव और उनके समर्थ प्रयोग की आवश्यकता थी, बिहारी में ये सब हैं।

अलंकार

बिहारी काव्यरीति से परिचित ही नहीं थे, वे उसके पंडित थे। उनके प्रत्येक दोहे में एक न एक अलंकार मिलेगा। कहीं-कहीं तो एक स्थान पर कई-कई अलंकार निकल आयेंगे। फल यह हुआ है कि बहुत से संग्रहों में बिहारी के दोहों को अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। परन्तु यह

बिहँसति सकुचति सी दिए कुच आँचर बिच बाहि
भींजै पट तट कौं चली न्हाइ सरोवर माँहि

आलंकारिक यहाँ "स्वभावोक्ति" अलंकार की स्थापना करेंगे।

जो हो, बिहारी के अलंकार-निरूपण के हम तीन भाग कर सकते हैं—

(१) चमत्कार-पूर्ण—यह अधिकांश शब्दालंकार पर आश्रित है, विशेषकर श्लेष अथवा यमक पर या अनुप्रास पर। ऐसे दोहों में चमत्कार भाव संस्थापन में बाधक होता है।

यमक

तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान
तू मोहन कैं उर बसी है उरबसी समान २५

पल सोंहैं पगि पीक-रंग छल सोंहैं सब बैन
बल सोंहैं कत कीजियत ए अलसौंहैं नैन ४१८

बर जीते सर नैन के ऐसे देखे मैं न
हरिनी के नैनानु तैं, हरि, नीके ए नैन ६७

श्लेष

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर
को घटि ए बृषभानुजा वे हलधर के बीर ६७७

अजौं तरयौना हीं रह्यौ श्रुति सेवत इक रंग
नाक-वास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतन कैं सङ्ग ८०

अनुप्रास

रस सिंगार मंजनु किए कंजनु भंजनु दैन
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन

कुछ अर्थालंकार के निरूपण में भी चमत्कार-चेष्टा है—

हुआ है। इन्हीं के द्वारा हम बिहारी की अत्यंत उच्च कल्पनाशक्ति से परिचित होते हैं—

सोहत ओढ़ैं पीतु पटु स्याम सलोनै गात
मनौ नीलमनि-सैल पर अतप पर्यौ प्रभात ६८९

यहाँ उपमान के रूप में बिहारी ने "नीलमनि सैल" की अपूर्व कल्पना उपस्थित की है और उस पर कविनेत्रों से प्रभात की धूप को पड़ते देखा है। इस प्रकार एक अत्यंत अलौकिक दृश्यविधान में वे सम्पूर्णतयः सफल हुए हैं—

अधर धरत हरिकैं परत ओठ-डीठि-पट-जोति
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष रंग होति ४२०
(तद्गुण)

यह दोहा बिहारी की उच्च कल्पना-स्फूर्ति का दूसरा उदाहरण है।

नीति-संबंधी दोहों में अन्योक्ति अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उदाहरण-स्वरूप कितने ही दोहे उपस्थित किये जा सके हैं। एक अन्योक्ति है—

स्वारथु सुकृतु न स्रमु वृथा देखि विहँग विचारि
बाज पराएँ पानि पर तूँ पच्छीनु न मारि

इनके अतिरिक्त बिहारी-सतसई में ऐसे कितने दोहे मिलेंगे जिनमें कोई विशेष अलंकार नहीं। ये वे वर्णनात्मक दोहे हैं जिनमें विशेष परिस्थितियों अथवा मुद्रा-चेष्टाओं का चित्रण है। इनसे हमें बिहारी की तीव्र यथार्थान्वेषिणी दृष्टि का पता चलता है जैसे स्नान का निरलंकार वर्णन बिहारी कितनी स्वाभाविक रीति से करते हैं—

मुँहु पखारि मुड़हरु भिजै, सीस सजल कर छ्वाइ
मौर उचै घूँटेनु तैं नारि सरोवर न्हाइ

भाषा

बिहारी-सतसई अपनी भाषा की प्राचीनता के कारण अधिक कठिन नहीं है। इस काठिन्य का कारण है उसकी शैली और उसमें उपस्थित साहित्य-रीति। बिहारी ने समास-पद्धति को अन्यतम शिखर तक पहुँचा दिया है। यही कारण है कि बहुत से दोहों का अर्थबोध इतना कठिन है कि टीका के बिना काम ही नहीं चलता। श्लेष, यमक आदि अलंकारों के प्रयोग से कठिनता और भी बढ़ जाती है। इसका फल यह हुआ है कि अत्यंत प्राचीनकाल से बिहारी-सतसई की टीकाएँ बनती रही हैं। टीकाकारों ने बिहारी के कठिन स्थलों को सुलझाया ही नहीं है, अनेक सरल सहज स्थलों का उलझा भी दिया है। कुछ धारणा ही इस प्रकार की बन चली है कि बिहारी का कोई भी दोहा व्यंगार्थ से खाली नहीं है, फलस्वरूप टीकाकारों ने अनेक सरल दोहों में से खींचातानी करके दर्जन भर अर्थ निकाल लिये हैं।

सतसई की भाषा ब्रजभाषा है परन्तु उसमें बुन्देलखण्डी, फ़ारसी-अरबी, पूर्वी और खड़ी बोली के शब्द एवं प्रयोग भी मिलते हैं।

बिहारी-सतसई में जिन बुन्देलखंडी शब्दों का प्रयोग हुआ है वे हैं—स्यौं, लखिबो, खए, सत्री, वैरु, ढूँका देना, गनिकी, कोह, ऍटधरी, चाला, सद, खिसी डारे रहत, लाने, चटक, देखवी, वीधे, गीधे, डरो रहौं। इनमें से अधिकांश शब्द सूर, तुलसी, भिखारीदास आदि अन्य इतर बुन्देलखण्डी कवियों द्वारा भी व्यवहृत हुए हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि उन्हें काव्यभाषा (चाहे ब्रजभाषा, चाहे अवधी) में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था और वे निःसन्देह प्रयोग में आते थे। "लखवी, पायवी" आदि का प्रयोग तुलसीदास के काव्य में भी मिलता है और ब्रजभाषा

कल लपटइयतु मो गरैं सोन जुही मिलि सैन
जिहिं चंपकबरनी किए गुल्लाल रँग नैन ४६६

यहाँ मुद्रालंकार का प्रयोग है जो स्वयम् चमत्कार पर आश्रित है। यहाँ कवि मोंगरा, सोनजुही, चंपक, गुल्लाला—फूलों के नाम को दोहे के प्रसंग में किसी प्रकार भी स्थापना करना चाहता है। इस चमत्कार के नीचे भावार्थ स्पष्टतयः दब गया है।

(२) जहाँ पांडित्य प्रदर्शन के लिए दर्शन, ज्योतिष आदि से अप्रस्तुत विधान ढूँढे गये हैं। सतसई के ४२, ३५५, ६८०, ७०१, ५ दोहों में ज्योतिषज्ञान को प्रदर्शित करना ही जैसे कवि का ध्येय हो गया है। फलतः वर्ण्य विषय स्पष्ट ही नहीं हो पाया है। इस प्रकार के स्थलों को भी चमत्कार-प्रदर्शन-भावना के अंतर्गत रखा जा सकता है। "बिहारी का पांडित्य" शीर्षक अध्याय में इस सामग्री की विस्तारपूर्ण विवेचना मिलेगी।

(३) जहाँ कवि ने अप्रस्तुत विधान के रूप में नई सामग्री उपस्थित की है। यह सामग्री अधिकतः रूपप्रसंग में आती है। यहाँ हमें कवि की मौलिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं, (देखिये दोहे १६३, ३००, ३८८, ४२०, ३६३, ६८६, ५७६, १०६, ५३८, ३४०)। इस सामग्री के आधार पर हम बिहारी की कल्पनाशक्ति पर विचार कर सकते हैं।

बिहारी के प्रत्येक दोहे में कोई न कोई अलंकार ढूँढ लिया गया है। कहीं-कहीं कई अलंकार एक साथ आ जाते हैं। बिहारी के प्राचीन परिपाटी के आलोचक और सहृदय पाठक ऐसे स्थलों को बड़ा महत्त्व देते हैं, परन्तु वास्तव में बिहारी का महत्त्व दूसरे ही स्थानों पर है जहाँ उन्होंने प्रकृत वस्तु उपस्थित की है और चमत्कारवाद से दूर रहे हैं।

सतसई के अनेक दोहे अपने मुहावरों के कारण ही लोकप्रिय हुए हैं। हिन्दी साहित्य में मुहावरों का प्रयोग बहुत कम हुआ है, कम से कम उर्दू की तुलना में। यही कारण है कि आज उर्दू जनता के अधिक निकट पड़ती है। उर्दू-कवियों ने बोलचाल पर बड़ा बल दिया। हिन्दी साहित्य में केवल बिहारी ही ऐसे हैं जिन्होंने इस ओर ध्यान दिया। ध्यान ही नहीं दिया, उनके प्रयोग इतने उत्कृष्ट हैं कि कदाचित् उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कवि भी उतने अच्छे प्रयोग नहीं कर सके। उन्हें मुहावरों का कोष कहना चाहिए।

(क) सीतलता ऽरु सुबास कौ घरै न महिमा मूरु
पीनस वारो जो तज्यो सोरा जानि कपूरु

(ख) जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकत मुँह दीन

(ग) आँखिन आँखि लगी रहैं, आँखैं लागति नाहिं

(घ) डाँडी दै गुन रावरे कहत कनौड़ी डीठि

(ङ) खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि
आक कली न रली करै, अली, अली जिय जानि।

कहीं-कहीं तो पूरा दोहा मुहावरा-ही-मुहावरा है।

(२) समास-निर्माण शक्ति—

दोहों की समास-पद्धति में समास-निर्माण का स्थान अत्यंत उच्च होना स्वाभाविक बात है। बहुत सी बात थोड़े से थोड़े शब्दों में कह दी जाये—यह समास द्वारा ही हो सकता है। बिहारी ने ब्रजभाषा की प्रकृति को पहचानते हुए लंबे-लंबे समास कम रखे हैं—

समरस-सरस-सकोच-बस-बिवस ५२७
बन-बिहार-थाकी-तरुनि-खरे-थकाए नैन ४०४

के आदि कवि सूरदास के काव्य में भी कुछ बुन्देलखण्डी शब्द एवं प्रयोग मिल जाते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि बुन्देलखंड के कुछ ठेठ शब्द बहुत पहले से काव्य में प्रयोग पाते रहे हैं। कुछ शब्द बिहारी-सतसई में अवश्य ऐसे मिलेंगे जिनका प्रयोग सर्वमान्य नहीं है। अन्य कवियों ने उनका प्रयोग नहीं किया है, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है।

इसी प्रकार सतसई में फ़ारसी-अरबी शब्दों को भी स्वतंत्रता-पूर्वक ग्रहण किया गया है। ऐसे शब्दों की संख्या ६० है। वे हैं—अकस, सोर, ताक़ता, इजाफ़ा, मुलक, आमिल, जोर, रकम, तरफ, क़िबलिनुमा, फौज, गोल, गिरह, कबूतर, साबित, सिरताज, गरम, हद, रुख, दाग, कागद, तमासे, गुलाब, तेज, हजार, चुगल, खियाल, हमाम, गोइ, चौगान, प्याले, बेहाल, सबील, गीर, सुयार, सिलसिले, बलाय, लगाम, नाहक, कालबूत, गरीब, निवाजियै, जुदी, गरज, हाल, खूबी, खुश्याल, अदब, सीसी, बदराह, नमूद, चश्मा, सिकार, कज़ाकी, जिह, कमान, नौक, नेजा, जरी, गलूबंद, कसरि, बेपाइ, हायल, पायंदाज, फानूस, मोरचा, सिबिहि, नाजुक, परी, दमची, राह, जुराफा, नरम, सोरा, कपूर, गुमान, हवाल, बहार, सफर, बाज, आब, अतर, अहसान, बन्द, बलख, कबूल, बहस, दरबार, फते, हुकुम।

पूर्वी शब्द अधिक मात्रा में नहीं हैं, परन्तु क्रिया आदि के पूर्वी प्रयोग बहुत से मिलते हैं—

लीन, कीन, दीन, लजियात, आदि (क्रिया)

जिहिं (जेहि) किहिं (केहि) (सर्वनाम)

बिहारी की भाषा अत्यन्त उत्कृष्ट है। हिन्दी के किसी कवि ने भाषा का इतना अच्छा प्रयोग नहीं किया। बिहारी की भाषा अत्यन्त वैभिन्न्यपूर्ण और बलवती है। इसके कई कारण हैं।

(१) मुहावरों का प्रयोग—

अजौं तर्‌यौना हीं रह्यो श्रुति सेवत इक-रंग
नाक-बास बेसरि लह्यो बसि मुकुतनु कैं संग २०

यहाँ तर्‌यौना (अधोवर्त्ती, कर्णभूषण विशेष), श्रुति (वेद, कान), नाक (स्वर्ग नासिका), वेसरि (नासिका भूषण, विशेष महा-अधम प्राणी) और मुकुतनु (जीवन मुक्त सज्जनों, मुक्ताओं) इतने श्लेषयुक्त शब्द एक ही स्थान पर रख दिये गये हैं। 'कानन' (कर्ण, वन) का प्रयोग तो कई दोहों में मिलेगा। "वृषभानुजा" "हलधर के बीर" आदि कितने ही विशिष्ट श्लेष विहारी की अपनी मौलिक प्रतिभा की उत्पत्ति हैं। श्लेष के संबंध में उनकी बुद्धि बड़ी "प्रत्युत्पन्नमति" थी।

(४) माधुर्य—

बिहारी-सतसई के दोहों के माधुर्य के विषय में तो लिखना ही नहीं हो सकता। माधुर्यवृत्ति तो सतसई को प्राप्त ही है। साधारणत: बिहारी को माधुर्य लाने के लिए विशेष कष्ट नहीं करना पड़ता परन्तु जहाँ ऐसा नहीं हो सकता वहाँ वे अनुप्रास और यमक से सहारा लेकर उक्ति को मधुरता से भर देते हैं।

नहिं पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल
अली कली ही तैं बँध्यो आगे कौन हवाल

यह दोहा यों ही मधुर, भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से परंतु—

रनित भृङ्ग घंटावली झरत दान मधु नीर
मंद मंद आवत चल्यौ कुञ्ज कुञ्जर कुटीर

यहाँ विहारी ने शब्दों की योजना स्पष्टत: असाधारण की है जिससे घंटे बँधे हुए हाथी के चलने की ध्वनि सुन-सी पड़े और उससे मधुभौंर-गुञ्जरित मलयसमीर की व्यंजना हो।

पल सौंहैं पगि पीक रँग छल सौंहैं सब बैन
बल सौंहैं कत कीजियत ये अलसौंहे नैन

उनके अधिकांश समास छोटे-छोटे हैं—

विकसित-नवमल्ली-कुसुम विकसित परिमल १७५

सारद-बारद-बीजुरी-या ४७८

तरुन-कोकनद-बरनवर१६६

उन्होंने अपने समासों से अनेक प्रकार के अर्थ निकाले हैं, जैसे, सदा समीपिनि सखिनु ५१६—सदा समीप रहनेवाली सखियों से, परन्तु प्रत्येक स्थान पर अर्थ सरलता से लग जाता है। बिहारी के समास-निर्माण-चतुरता किस प्रकार अभिव्यक्ति में सहायता देती है, यह बात इस दोहे में देखिए जिसमें ४ समासों का प्रयोग है—

तिम-तिथि तरुन-किसोर-वय पुन्यकाल-सम दोनु
काहू पुन्यनु पाइयतु वैस-संधि संक्रोनु २५४

जहाँ भी उन्हें समास का निर्माण करना होता है, वहाँ वे अत्यंत असंकोच-भाव से ऐसा करते हैं, इसीलिए वे कितने ही अभिनव समासों की सृष्टि में सफल हुए हैं—कुच-उचपद-लालच ३७७, रिस-सूचक मुसकानि ३७६, प्रीतम लियौ (प्रियतम से लिया हुआ) ३८०; मनसदन।

(३) श्लेष-संस्थापन-चातुर्य—

हम पहले कह चुके हैं कि बिहारी भाषा का चमत्कारिक प्रयोग करने में भी सफल हुए हैं। उनकी रुचि उस ओर है, इसमें तो कोई संदेह नहीं; बिहारी-सतसई से श्लेष और यमक सैकड़ों की संख्या में ढूँढे जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि उन्हें उस शब्दावली पर कितना पूर्ण अधिकार था जिसका वे प्रयोग कर रहे थे। कहीं-कहीं एक ही दोहे में अनेक श्लेष शब्द भर दिए गए हैं जो भाव-चमत्कार की संस्थापना कर सके हैं। भले ही इस तरह की बात अवांछनीय हो, इसमें तो संदेह नहीं कि भाषा पर पूर्ण अधिकार रखे बिना यह काम कठिन ही नहीं, असंभव था।

(ख) कौन सुने, कासौं कहौं, सुरति विसारी नाह
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह

(ग) जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चखि अंगूर

इस प्रकार के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं—

(७) गूढ़ता—

भाषा का समास-रूप से (अर्थात् थोड़े में बहुत आशय भरने) प्रयोग करने में विहारी अद्वितीय हैं। इसीसे उनकी भाषा अर्थ-गाम्भीर्य को साथ लेकर चलती है। कहीं-कहीं एक ही दोहे में नायक और नायिका के अनेक भावानुभावों को एक ही स्थान पर बाँध देना पड़ता है और अनेक क्रियाओं की सुन्दर, सार्थक योजना आवश्यक हुई है, जैसे—

कर लै, चूमि, चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि
लहि पाती पिय की लखति, बांचति, धरति समेटि

इनमें भाषा भाव की गूढ़ता भरने में समर्थ हुई है।

संक्षेप में, विहारी की भाषा स्वाभाविक, प्रवाहमय, परि-मार्जित, शुद्ध साहित्यक भाषा है, जिसमें अनुप्रास और यमक को विशेष स्थान मिला है। विहारी ने अनेक स्थानों पर बोल-चाल के ढङ्ग को भी निभाया है। उनकी भाषा सदैव ही भावानुगामिनी है, उसमें ग्रामीणता दोष लगभग नहीं आ पाया है। यह विहारी के लिए श्रेय की बात है कि उन्होंने छोटे-से दोहे में इतने विस्तृत और गंभीर अर्थ भरने पर भी उसकी भाषा को तोड़ा-मरोड़ा नहीं, न उसे अन्य प्रकार विकृत होने दिया। कुछ थोड़े से दोहों को छोड़कर सब जगह प्रसाद गुण की अवस्थिति है।

यह कहा जा सकता है कि विहारी ने ब्रजभाषा में कुछ अप्रचलित शब्दों, विशेषकर बुन्देलखण्डी शब्दों, (जैसे—आधु, नटसाल) का प्रयोग किया है या उनके शब्द-कोष में कुछ ग्रामीण

यहाँ स्पष्टतः अनुप्रास ने माधुर्य की योजना की है।

अधर धरत हरि के परत ओंठ दीठि पर जोति
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष रँग होति

यहाँ अनुप्रास (अधर, धरत, परत; हरि, हरित, बाँस, बाँसुरी; जोति, होति) ने फिर सहारा दिया। परन्तु कहीं शब्दार्थ की व्यंजना से भी मधुरता बढ़ी है—कहै देत रँग रात के रँग निचुरत से नैना में चमक (रँग = वर्ण, क्रीड़ा या आनन्द) तो है ही, दोहे का भावार्थ भाषा को और भी मधुर बना रहा है।

नाद-सौन्दर्य पर कवि की दृष्टि सदा बनी रहती है यह बात कितने ही शब्दों से प्रगट होती है, जैसे—लहलहात, झलमलात। कहीं-कहीं पुनरुक्ति के द्वारा नादसौन्दर्य की सृष्टि की गई है—

ज्यौं-ज्यौं आवति निकट निसि त्यौं-त्यौ खरी उताल
झमकि झमकि टहलें करैं लगी रहचटें बाल

(५) चित्रमयता—

लगभग प्रत्येक दोहा एक अत्यंत उत्कृष्ट चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। इस दिशा में बिहारी का शब्दों का उपयुक्त चुनाव कुछ सहायता करता है। इस चित्रमयता के कारण बिहारी की पदावली अनेक स्थान पर जयदेव की "कोमलकांत पदावली" से भी ऊपर उठ गई है—

अरुन चरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार
चुँवति सुरँग रँग सी मनों चँपि बिछियन के भार

(६) स्वाभाविकता—

कितने ही दोहों में प्रतिदिन की बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है, विशेषकर जहाँ संवाद की योजना है—

(क) बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय
सौंह करै भौंहनि हँसै दैन कहै नटि जाय

(१) जहाँ विहारी फ़ारसी साहित्य से प्रभावित होकर अथवा काव्य-परिपाटी के वश में होकर कल्पना को अनन्त दूरी तक खेंचते हैं, जैसे—

सुनत पथिक मुँह माह निसि, चलति लुवैं उहिं गाम
विन बूझै विनहीं कहै जियति विचारि वाम

(२) जहाँ वे पांडित्य प्रदर्शन की चेष्टा करते हुए दिखाई पड़ते हैं—

चलनु न पावतु निगम मगु जगु उपज्यौ अति त्रासु
कुच उतंग गिरवर गह्यौ मैना मैनु मवासु

विषय कुच-वर्णन है, परन्तु कवि समअभेदरूपक (सांगरूपक) का सहारा लेकर निगम (वेद) को भी इस प्रसंग में घसीट लाता है।

(१) जहाँ वे काव्य-रीति को हद तक पहुँचा देना चाहते हैं और प्राचीन काव्य-रूढ़ियों मात्र का सहारा लेकर कविता करते हैं। प्रत्येक दोहे में संदर्भ रहित, जीवन का एक चित्र उपस्थित किया गया है। उसके ठीक-ठीक समझने के लिए भूमिका की आवश्यकता है। पाठक को उसका संदर्भ अपनी ओर से देना होता है। यदि यह संदर्भ ठीक नहीं हुआ तो दोहे का भाव पूर्ण रूप में खुल ही नहीं सकता। इस प्रसंग-विधान के ठीक-ठीक लगाने के लिए काव्य रूढ़िज्ञान और शास्त्रज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। उदाहरण के लिए—

ढीठि परोसिन ईठि है कहे जु गहे सयानु
सबै संदेसे कहि कह्यो मुसुकाहट लै मानु

ईठि (मित्र) होकर ढीठ पड़ोसिन ने वे सब संदेश कहे जो चतुराई से उसे कहने को मिले थे और अन्त में मुस्कराहट में मान की बात कही। परन्तु साहित्यरीति से परिचित जानता है

शब्द, (जैसे—सिसक, मसक, चोरटी, गोरटी) आ गये हैं, परन्तु इस तरह की बातें नगण्य हैं। वैसे कहीं-कहीं लिंगविपर्यय भी मिलेगा, (जैसे—वायु, उसास आदि कभी पुल्लिंग में आते हैं, कभी स्त्रीलिंग में)। परन्तु बिहारी की भाषा के अनेक अन्य गुणों से इन दुर्गुणों के परिहार सहज ही हो जाते हैं। सच तो यह है, भाषा का इतनी सतर्कता से प्रयोग ब्रजभाषा और अवधी के किसी भी कवि ने नहीं किया जितनी सतर्कता से बिहारी ने उसका प्रयोग किया है।

शैली

बिहारी-सतसई के दोहों में हम एक विशिष्ट प्रकार की रचना-शैली के संपर्क में आते हैं। इसकी विशेषता, हम पहले देख चुके हैं, रचना-सौष्ठव है जो मुख्यतः समास-पद्धति पर आश्रित है। परन्तु इस समास-पद्धति के भी दो रूप हमें दिखलाई पड़ते हैं—

(१) जिसमें कथन की वक्रता की ओर ही कवि का अधिक ध्यान है। बिहारी की प्रशंसा इन्हीं दोहों पर आश्रित है। इस कथन की वक्रता का आधार कहीं ध्वनि है, कहीं अलङ्कार, कहीं कूट। कहीं-कहीं इसी वक्र-शैली के कारण बिहारी अत्यंत दुरूह हो जाते हैं।

(२) जिसमें कवि कथन की सरलता, सरसता और उसके प्रसादगुण की ओर अधिक ध्यान देता है।

पहले प्रकार की शैली शृंगार-संबंधी दोहों में प्रयोग में आई है, विशेषकर संयोग शृंगार-संबंधी दोहों में, दूसरे प्रकार की शैली भक्ति और नीति दोहों में पाई जाती है।

[साधारणतः बिहारी की कविता अत्यंत स्वाभाविक है परन्तु कुछ स्थलों पर वे स्वाभाविकता से बहुत दूर जा पड़ते हैं जिसके कारण उनकी कविता में कुरुचिता अथवा अस्पष्टता का दोष आ जाता है। अस्वाभाविकता के कई कारण हैं—

को स्वेद सात्विक भाव हुआ है तो दोहा उनपर खुल ही नहीं सकता।

इस प्रकार प्रसङ्ग विधानों में बिहारी ने जो अनेक मौलिक कल्पनाएँ की हैं उनमें से अधिकांश काव्य रूढ़ियों के ज्ञान के बिना हृदयंगम ही नहीं हो पातीं। अतः ऐसे स्थल दुरूह बन जाते हैं। फिर ऐसे भी अनेक स्थल हैं जहाँ अलङ्कारयोजना मात्र ही कवि का उद्देश्य है, जैसे इन दोहों में—

खौरि पनच भृकुटी धनुप वधिक समर तजि कानि
हनत तरुन मृग तिलक सर सुरकि भाल भरि तान

यहाँ काम को व्याध का रूप देकर शिकार का सांगरूपक उपस्थित किया गया है। "भृकुटी रूपी धनुप पर खौर की प्रत्यंचा चढ़ाकर सुरकरूपी गाँसी वाले तिलकरूपी वाण को संधान कर और ख़ूब खींचकर मर्यादा छोड़कर कामरूपी व्याध युवक-रूपी हिरणों का शिकार करता है।"

कौड़ा आँसू बूँद, करि साँकर वरुनी सजल
कीन्हें बदन निमूँद, दृग मलङ्ग डारे रहत

यहाँ विरहिणी को लेकर मलंग (मुसलमान फ़कीर) का सांग-रूपक खड़ा किया गया है। आंसू के बूँद कौड़ियों की माला है (जो मलंग गले में डाले रहते हैं), सजल वरुण सांकल है (मलंग कमर में मेखला बाँधते हैं), मुँह खुला है जैसा कुछ कह रही हो (जपते रहने के कारण मलंग भी मुँह खोले रहते हैं) आंख निश्चल है (मलंग भी निश्चल पड़े रहते हैं)। यह व्याधिदशा का वर्णन है, यह भी ज्ञातव्य है।

बिहारी की शैली ही उनकी गूढ़ता का कारण है। ४६ अक्षरों के चौखटे में जीवन के एक बड़े चित्र को बाँधने में दुरूहता आना असम्भव नहीं है। बड़े-बड़े प्रसंग, बड़े-बड़े रूपक एक ही दोहे में भरने का फल यही होगा कि उसमें थोड़ी-बहुत गूढ़ता अवश्य आ जायगी।

कि पड़ोसिन परकीया है, नायक से उसका प्रेम है । मुस्कराकर मान की बात कहना साधारणतः समझ में नहीं आता परन्तु पड़ोसिन याद दिला रही है कि कभी नायिका ने हमें बातें करते देख मान किया था, आज उसी ने लाचार होकर मुझे संदेश के लिए चुना। उसकी ढीठता से इशारा है कि अब दोनों का गुप्त-प्रेम खूब चल सकेगा। "बिहारी बोधिनी" के लेखक ने इस दोहे की भूमिका में कहा है—"किसी नायक की पड़ोसिन से प्रीति थी। एक बार नायक को पड़ोसिन से हँसते हुए देखकर नायिका ने मान किया था। आज ऐसा मौक़ा आया कि नायक विदेश जाने के लिये तैयार हुआ तो नायिका व्याकुल हुई। पड़ोसिन ने आकर नायिका से सहानुभूति जताई। तब नायिका ने कहा कि बहन! तू ही मेरी व्याकुलता का हाल सुनाकर नायक को समझा दे कि विदेश न जाय, पर ऐसी चतुराई से कहना कि मेरा कहना भी प्रकट न हो (क्योंकि नायिका मध्या है)। तब पड़ोसिन ने नायिका का सब संदेश बड़ी चतुराई से नायक को सुनाया और अन्त में यह कहा कि एक समय वह था कि मुस्कराने पर नायिका ने मान किया था और आज ऐसा मौक़ा आया कि उसी ने आपसे एकान्त में बातचीत करने को आज्ञा दे दी। अब आप मेरे कहने से रुक जाइए तो नायिका सदैव मेरी कनौड़ी रहेगी, तो फिर आपका-मेरा प्रेम भी निर्विघ्न चलता रहेगा और अब मुस्कराने की कौन बात, प्रत्यक्ष बातचीत करते भी देख लेगी तो कुछ न कह सकेगी।"

रहौ गुही बेनी लख्यौ गुहिवे को त्यौनार
लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाये बार

यहाँ नायक नायिका के बाल गूँथने बैठा तो सूखे बालों से पानी झरने लगा। यदि पाठक यह नहीं समझता कि स्पर्श से दम्पति

स्थान कृष्ण से ऊँचा था। इसी से भक्त राधा की उपासना करता था। उसी से कृष्ण का अनुग्रह भी प्राप्त हो जाता है क्योंकि कृष्ण तो राधा की झाईं पड़ते ही प्रसन्न हो जाते हैं; वे स्वयम् राधा के वश में हैं। हितचौरासी के राधाभक्ति के पदों का प्रचार भी खूब हुआ। व्यास (हरीराम) और रसिकदास भी राधा-वल्लभी संप्रदाय के प्रसिद्ध कवि हैं।

इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जायगा कि बिहारीलाल वृन्दावन के भक्ति-वातावरण से प्रभावित थे। वे केशव (कृष्ण) के भक्त थे। उनके बालरूप के नहीं। उनके अंतरंग विहार के। वे राधावल्लभी भक्ति को भी ग्राह्य समझते थे।

परन्तु बिहारी राधाकृष्ण के कट्टर भक्त नहीं थे। मध्ययुग की भक्ति-भावना की यह विशेषता है कि वह किसी एक विशेष इष्टदेव पर आग्रह रखते हुए भी अन्य इष्टदेवों का विरोध नहीं करती। कबीर, सूर और तुलसी की रचनाओं के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। बिहारी ने भी कृष्णभक्ति पर दुराग्रह नहीं किया—

अपने अपने मत लगे बाद मचावत सोर
ज्यों-त्यों सबही सेइबौ एकै नंदकिशोर

कृष्ण की भक्ति में सख्यभाव की प्रधानता थी। वात्सल्य भाव की भक्ति वल्लभ-संप्रदाय से बाहर नहीं जा सकी, परन्तु शृंगार और सख्यभक्ति में कवियों को अच्छा विषय मिला। भगवान् के साथ सख्यभाव से सम्बन्ध स्थापित करनेवाला भक्त उसे मित्र की भाँति उलाहना देता है, उसे डाँट-डपट सकता है अथवा उससे होड़ बद सकता है। सूरदास की रचनाओं में ऐसे अनेक पद हैं जिनमें उन्होंने भगवान् को ललकारा है—इस संसार सागर से तार दो नहीं तो तुम्हारा रहस्य खोला—

जप माला छापा तिलक सर्यौ न एकौ काम
मन काँचे नाचे वृथा साँचे राचे राम

इन भक्ति-भावनापूर्ण दोहों के कारण बिहारी का आलोचक सच-मुच बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है। या तो वह ग्रियर्सन की तरह कह देता है कि सारा बिहारी-साहित्य ही भक्ति-साहित्य है या बिहारी को गाली देता है कि उसने जयदेव की भाँति अपने इष्टदेव की छीछालेदर की। परन्तु दोनों विचार ठीक नहीं हैं। मध्ययुग की कृष्णभक्ति की प्रतिष्ठा लौकिकता के बीच में हुई थी। उस लीला को आचार्य और कवियों ने प्रतिदिन के लौकिक जीवन के इतने निकट ला दिया था कि कवि और रसिक प्रत्येक दिन की लौकिक बातों में अलौकिकता का आभास देखने लगे थे। उनके लिए पारस्परिक दाम्पत्यप्रेम राधामाधव के प्रेम से कुछ भी भिन्न नहीं था। उनकी एक विशेषता थी कि वे लौकिक और पारलौकिक दोनों छोरों को एक ही पेंग में छू लेते थे। इसीलिए उनमें भक्ति और शृंगार का ऐसा सम्मिश्रण है कि आधुनिक बुद्धि चकरा जाती है। आज की जैसी विश्लेषण-प्रधान बुद्धि मध्ययुग की नहीं थी; न वह अतिरिक्त पवित्रभावना थी। उस युग में मनुष्य ने रसिकता के द्वारा भगवान् की उपासना का नया मार्ग खोज डाला था। जयदेव ने कहा है—

यदि हरि स्मरणं सरसं मनो
यदि विलास कलासु कुतूलहम्
सरस कोमलकांत पदावलीम्
शृणुया जयदेव सरस्वतीम्।

यह 'विलासकला' वास्तव में कुतूहल है। इसमें इन्द्रियों की आसक्ति को स्थान नहीं मिला। यह अलौकिक का विलास है। इसकी रहस्यमयता ने भक्तों को आकर्षित किया, इसके स्थूल इन्द्रिय-रूप ने नहीं।

हरि हौं सब पतितन को राव
को करि सकै बराबरि मेरी सोचौं मोहि बताव
व्याध गीध अरु पतित पूतना तिनमें बढ़ि जो और
तिनमें अजामिल गनिका अति उनमें मैं सिरमोर
तहँ-तहँ सुनियत यहै बड़ाई मो समान नहिं आन
अब जो आजु काल के राजा तिनमें मैं सुलतान
अब लौं तो तुम बिरद बुलायो भई न मोसों भेंट
तजौ बिरद कै मोहिं उबारौ सूर गही कसि फेंट

बाद के साहित्य में तो इन भावनाओं को लेकर एक शैली ही खड़ी कर ली गई। बिहारी के कई दोहे इस प्रकार के भाव प्रगट करते हैं—

मोहि तुम्हें बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज
अपने अपने बिरद की दुहुनि निबाहत लाज
समय पलटि पलटै प्रकृति को न तजै निज चाल
भो अकरुन करुनाकरन यह कपूत कलिकाल
थोड़े ही गुन रीझते बिसराई वह बानि
तुमहूँ कान्ह मनौ भए आजु कालि के दानि

बिहारी की भक्तिभावना का इस दोहे में बहुत ही स्पष्ट चित्रण हुआ है—

हरि कीजत तुमसों यहै बिनती बार हज़ार
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यो रहौं पर्‌यो रहौं दरबार

परन्तु बिहारीलाल-जैसे सौन्दर्यप्रेमी, कविहृदय, रसिक साधक से यह आशा नहीं की जाती कि वह भक्ति की उपासना-पद्धति को स्वीकार करे अथवा उसके वाह्य रूप और आचरण पर भी ध्यान दे। इसीलिए उनके दोहों में ऐसे दोहे भी हैं जो वाह्याचार का खंडन करते हैं यद्यपि वे कबीर आदि की तरह वाह्याचार को एकदम पाखंड नहीं बताते—

७

बिहारी का प्रकृति-वर्णन

अंग्रेज समालोचकों ने विहारी के प्रकृति-चित्रण की बड़ी प्रशंसा की है। इम्पीरियल गजेटियर ऑव इंडिया, जिल्द २, पृ० ४२३, पर कहा गया है—

"He is particularly happy on his description of natural phenomena, such as the scent-laden breeze of an Indian Glooming, the wayworn pilgrim from the Sandal South, adust, not from the weary road, but from his pollen-quest, brow-headed with rose-dew for sweat, and lingering, beneath the trees, resting himself, and inviting others to repose........."

डा० ग्रियर्सन विहारी को 'Thompson of India' कहते हैं (देखिए लालचंद्रिका की भूमिका), परन्तु विहारी के प्रकृति-वर्णन में न विशदता है, न मौलिकता।

विहारी ने षटऋतुवर्णन के रूप में प्रकृति का वर्णन नहीं किया है, यद्यपि उनकी सतसई में छओं ऋतुओं के विषय में कहे हुए दोहे मिलेंगे। वास्तव में षटऋतुवर्णन एक विशिष्ट शैली है। संस्कृत काव्य में ही यह शैली चल पड़ी थी परन्तु मुक्तकरूप में षटऋतुवर्णन नहीं किया गया था। प्राकृत काव्य में हमें पहली वार इसके दर्शन होते हैं। गाथासप्तशती में षटऋतु-सम्बन्धी गाथाएँ हैं, विहारी उनके ऋणी भी हैं। परन्तु उन्होंने षटऋतु-शैली को अपनाया नहीं है। इस शैली में क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म,

कहलाने एकत बसत अहि-मयूर मृग बाघ
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ
(ग्रीष्म)

लगति सुमन सीतल किरन निसि सुख दिन अवगाहि
माह ससी भ्रम सूर तन रही चकोरी चाहि
(हेमन्त)

[यहाँ तो प्रकृति का रूप ही काव्यरूढ़ि से छिप गया है। यहाँ कवि रूढ़ि के आधार पर 'भ्रांति' अलकार की स्थापना ही कर सका है, हेमन्त चित्र में बँध नहीं सका।]

२—शब्दानुप्रास का प्रयोग—

छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी गंध
ठौर ठौर झूमत झपत भौंर भौंर मधु-अंध
(वसन्त)

इस दोहे की प्रशंसा गजेटियर और डा० ग्रियर्सन ने की है, परंतु इसमें सौन्दर्य शब्दानुप्रास और माधुर्यवृत्ति का है, कोई नवीनता नहीं है, न वसन्त के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन ही हुआ है।

३—श्लेष का प्रयोग—

कुढंग कोप तजि रँगरली करति जुवति जग जोय
पावस बात न गूढ़ यह बूढ़व हू रँग होय

बूढ़व = वीरवहूटी, बूढ़ी स्त्री।

कवि की दृष्टि शब्दों के चमत्कार पर कितनी अधिक है, यह दूसरे उदाहरण से और भी स्पष्ट हो जायगा—

कियो सबै जग काम बस जीते जिते अजेय
कुसुमसरहि सरधनुष कर अगहन गहन न देय
(पावस, हेमन्त)

वर्षा, शरद, शिशिर और हेमंत ऋतुओं में नायिका की दशा का वर्णन किया जाता है। प्रत्येक ऋतु के आगमन का नायिका पर क्या प्रभाव पड़ा—यह मंतव्य है। अतः प्रकृति-वर्णन उद्दीपन है। प्रत्येक ऋतु उद्दीपन रूप में ही सामने आती है। बिहारी के प्रकृति सम्बन्धी दोहों में से बहुत कम उद्दीपन के अंतर्गत रखे जा सकते हैं—

फिरि घर को नूतन पथिक चले चकित चित भागि
फूल्यो देखि पलास बन समुहे समुझि दवागि
अंत मरैंगे चलि जरैं चढ़ि पलास की डार
फिरि न मरैं मिलिहैं अली ये निरधूम अँगार
(वसन्त)

कौन सुने ? कासों कहौं ? सुरत विसारी नाह
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह
धुरवा होहिं न आलि इहै धुँआ धरनि चहुँ कोद
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद
पावक झरतें मेह झर दाहक दुसह विशेष
दहै देह वाके परस याहि दृगन ही देख
(पावस)

अधिकांश दोहों में स्वतंत्र रूप से प्रकृति का वर्णन है। इस प्रकार के वर्णन अन्य स्थान पर कम अवश्य हैं, परन्तु हैं अवश्य। इन दोहों में विहारी अपने प्रकृति निरीक्षण का परिचय नहीं देते, न उनसे उनकी प्रकृति-सम्बन्धी सहृदयता और प्रकृति-प्रेम की ही सूचना मिलती है। उन्होंने सामान्य प्रचलित बातों, कवि-प्रसिद्धियों, रूढ़ियों, शब्दानुप्रास, श्लेप और अत्युक्ति के प्रयोग से प्रकृति की विविधता और सुन्दरता को ढँक दिया है :

१—सामान्य ज्ञान, कवि-प्रसिद्धि और रूढ़ि के प्रयोग—

मिलि बिहरत बिछुरत मरत दम्पति अति रस लीन
नूतन विधि हेमन्त ऋतु जगत जुराफ़ा कीन
रहि न सकी सब जगत में सिसिर सीत के त्रास
गरमी भजि गढ़वै भई तिय कुच अचल पवास

हेमन्त के ये चित्र किसी प्रकार भी प्रकृति-काव्य के अन्तर्गत नहीं आते। इनमें कवि साधारण रसिकता से ऊपर उठ ही नहीं सका है। उसने प्रकृति को प्रोषित्पतिकाओं (वामा भामा कामिनी) और अभिसारिकाओं (उठि ठक ठक एतो कहा पावस के अभिसार) के भीतर से देखा है, अपनी आँखें बन्द कर ली हैं। प्रकृति के सम्बन्ध में बिहारी का दृष्टिकोण इस एक दोहे से स्पष्ट हो जाता है—

द्वैजसुधादीधित कला वह लखि डीठि लगाय
मनो अकास अगस्तिया एकै कली लखाय

(हे नायक, यह प्रकृति चंद्रोदय क्या देख रहे हो, यह तो मानो अगस्त की एक ही कली है, जरा दृष्टि लगाकर ध्यान से उस द्वैज की चंद्रकला को देखो) इस दोहे में सखी जिस प्रकार नायक को किसी नायिका का घूँघट से थोड़ा निकला हुआ मुख दिखलाकर प्रकृति-चन्द्रोदय की ओर से विरत करती है, उसी तरह बिहारी की रसिकता उन्हें प्रकृति की ओर जाने ही नहीं देती।

४—अत्युक्ति का प्रयोग—

नाहिन ये पावस प्रबल लुबैं चलत चहुँ पास
मानहु बिरह बसन्त के ग्रीषम लेत उसास
(ग्रीष्म)

पावस निसि अँधियार में रह्यौ भेद नहिं आन
राति द्यौत जान्यो परत लखि चकई चकवान
(पावस)

यद्यपि कहीं-कहीं अत्युक्ति द्वारा प्रभाव-चित्र अत्यंत सुन्दर हो गया है और इस प्रकार कवि प्रकृति का सुन्दर चित्रण कर सका, जैसे, ग्रीष्म के इस दोहे में—

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माँह
निरखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छाँह

परन्तु ऐसे स्थल एक-दो ही हैं।

जिन दोहों में कवि रूपक बाँधता है वहाँ प्रकृति के चित्र प्रभावपूर्ण ढङ्ग से अंकित हो सके हैं, जैसे, शरद सुन्दरी (अरुन सरोरुह कर चरन) और "सरद सूर नरनाह रूपक तथा वसन्तसमीर के कुञ्जर, प्रिया, बटोही, नवबधू रूपक। शरद और वसन्तसमीर के इन चित्रों में कवि ने अपनी सामग्री शृंगार से ही ली है और नारी-रूप में उनका चित्रण किया है। परन्तु इन सभी दोहों में वह रूपक को निभाते हुए भी प्रकृति का सुन्दर रूप से उद्घाटन कर सका है। यद्यपि यहाँ भी उसका लक्ष्य अलङ्कार ही है, परन्तु कविता अलङ्कार से आगे बढ़ गई है। वसन्तसमीर के चित्र तो हिन्दी साहित्य में बेजोड़ हैं। परन्तु हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि कवि को अति शृंगारप्रियता ने प्रकृति-चित्रण को हानि पहुँचाई है—

अरे हंस या नगर में जैयो आयु विचार
कागनि सों जिन प्रीति करि कोयल दई विडार
वे न इयाँ नागर वड़े जिन आदर तो आव
फूल्यो अनफूल्यो भयो गँवई गाँव गुलाव

(४) धन्य-व्यय (अपग्रह)—

मीत न नीत गलीत है लै धरिए जन जोरि
खाए खरचै जो जुरै तो जोरिए करोरि

(५) बड़प्पन और यश—

वड़े न हूजै गुनन विनु विरद बड़ाई पाय
कहत धतूरे सों कनक गहनों गढ़्यो न जाय

(६) उपयोगिता—

अति अगाध अति औंवरे नदी कूप सर वाय
सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय

—

८

बिहारी की नीति

बिहारी के नीति संबंधी दोहे भी इतने ही मार्मिक हैं जितने शृंगार-संबंधी दोहे। इनका विश्लेषण हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) सत्संग-कुसंग—

संगति-सुमति न पावहीं परे कुमति के धंध
राखौ मेलि कपूर में हींग न होति सुगंध

(२) समय का फेर—

मरत प्यास पिंजरा पर्‌यो सुआ समै के फेर
आदर दे-दे बोलिए वायस बलि की बेर
नहिं पावस ऋतुराज यह तजि तरवर मति मूल
अपत भए बिनु पाइहैं क्यों नवदल फल फूल
जिन दिन देखे वे कुसुम गई सुबीति बहार
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार

(३) गुण पहचानने की अयोग्यता—

शीतलता ऽरु सुगंध की महिमा घटी न मूर
पीनसवारे जो तज्यो सोरा जानि कपूर
जो सिर धरि महिमा मही लहियत राजा राव
प्रगटत जड़ता आपनी मुकुट पहिरियत पाँव
चले जाहु ह्याँ को करै हाथिन का ब्यौपार
नहिं जानत यहि पुर बसैं धोबी और कुम्हार

विषयों को लेकर जो कुछ कहा गया है या उनके ज्ञान का जैसा प्रयोग है, उससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१—ज्योतिष

"अर्थप्रकाश" में लिखा है—

गुरुभौमसमायोगे करोत्येकार्णवां महीम्

इस ज्ञान का बिहारी इस सोरठे में उपयोग करते हैं—

मङ्गल बिन्दु सुरंग ससि मुख केसर आड़ गुरु
इक नारी लहि संग रसमय किय लोचन जगत

"सुन्दरी नायिका के भाल में लगी हुई (सौभाग्यसूचक) लाल रंग की रोरी की बिंदी मंगल है। मुख चंद्रमा है। पीत वर्ण की केशर की आड़ बृहस्पति है। इन सबने एक 'नारी' (नाड़ी व स्त्री) में स्थित होकर लोचन-जगत (संसाररूपी नेत्रों) को रसमय (जलमय व शृंगाररसमय) कर दिया।"

स्पष्ट है कि बिहारी 'नारी' और 'रस' के श्लेष को देखकर इस कल्पना की ओर मुड़े हैं। उनके श्लेष से परिपुष्ट इस रूपकालंकार में ज्योतिष का बृहद् ज्ञान कहाँ छिपा है ? मङ्गल का रंग लाल और बृहस्पति का रंग पीला माना गया है, यह बात बिहारी-जैसा बहुश्रुत कवि कैसे नहीं जानता ?

वाराहमिहिर ने 'बृहज्जातक' में लिखा है—

गुरु स्वर्क्षोंचस्थे नरपतिः

साधारण फलित ज्योतिष का ज्ञान रखनेवाला भी जानता है कि जन्मकुण्डली में तुला, धनु और मीन का आ जाना राजयोग है

बिहारी लिखते हैं—

सनि कज्जल, चख झख लगनि उपज्यौ सुदिन सनेहु
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सबु देहु ५

९

बिहारी का पांडित्य

इसमें कोई संदेह नहीं कि बिहारी रीति-शास्त्र के पंडित थे। उन्होंने संस्कृत काव्य-ग्रन्थों का बड़ा सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन किया था एवं हिंदी के पूर्ववर्त्ती कवियों की रचनाओं के मार्मिक स्थल भी उन्होंने खोज निकाले थे। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरुकशतक, कालिदास, भवभूति, जयदेव, केशव और सूरदास—इनके कितने भी भाव बिहारी-सतसई के दोहों में इस सारग्राहकता, सहृदयता और काव्यमर्मज्ञता से ग्रहण किये गये हैं कि बिहारी के गहरे अध्ययन के संबंध में मौन रह जाना कठिन है, परन्तु विद्वानों ने श्रम-पूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बिहारी सभी शास्त्रों में पूर्ण पारंगत थे। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, दर्शन, विज्ञान इन सभी विषयों में बिहारी को अपने युग का अद्वितीय पंडित सिद्ध करने का प्रयास उपहासास्पद होगा, यह बात भूलकर ऐसा सिद्ध करने की बारंबार चेष्टा हुई है।

वास्तव में सार इतना ही है कि बिहारी शास्त्रज्ञ पंडित-कवि थे। वे बहुदर्शी और बहुश्रुत ही थे। इन गुणों के अतिरिक्त उनका लोकज्ञान, व्यवहारज्ञान और आत्म एवं पर-निरीक्षण भी कम नहीं। हो सकता है, ज्योतिषशास्त्र का अभ्यास उन्होंने स्वतंत्र रूप से भी किया हो, परन्तु अन्य शास्त्रों में उनकी पैठ उतनी ही थी जितनी उन जैसे पंडित, राजाश्रयभोगी कवि की होना चाहिए, इससे अधिक नहीं। उनकी सतसई में इन विभिन्न शास्त्रों के

यह कल्पना कितनी ऊँची है, कितनी संयत है। "संक्राति"-साम्य का कैसा सुन्दर उपयोग हुआ है।

और भी असंयत कल्पना का एक उदाहरण है—

पत्रा ही तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास
नितप्रति पून्योई रहै आनन-ओप उजास ७३

इसे ज्योतिप ज्ञान का उपयोग कहें या भर्त्सना ?

२—गणित

बिहारी को गणितज्ञ सिद्ध करनेवालों को केवल दो ही दोहे मिलते हैं जिनमें अत्यंत साधारण गणित-ज्ञान का भी परिचय नहीं मिलता। कौन नहीं जानता कि विन्दु देने से "आंक" दस-गुना हो जाता है या रुपया चिन्हित करने के लिए अंक के आगे विकारी लगानी होती है ? ये प्रतिदिन के व्यवहार की बातें हैं। अंतर यही है कि कवि ने सहज ज्ञान को अप्रस्तुत विधान का रूप देकर उसे काव्य में स्थान दे दिया है :

कहत सबै, बेंदी दियैं, आँकु दसगुनौ होतु
तिय लिलार बेंदी दियैं अगिनितु बढ़तु उदोतु ३२७
कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़गो इतौ उदोतु
बंक विकारी देत ज्यौं दामु रुपैया होतु ४४२

यह अवश्य है कि इन उक्तियों में नायिका का सौन्दर्य अच्छी तरह प्रस्फुट हो सका है, परन्तु इनसे कवि गणितज्ञ सिद्ध नहीं हो जाता। वह जीवन-व्यवहार की सामग्री को काव्य बना देता है, उसे श्रेय इतना भर है।

३—वैद्यक

वैद्यक-सम्बन्धी ज्ञान-गर्भित उक्तियाँ भी इनी-गिनी हैं, और उनमें भी कवि सामान्य ज्ञान से ऊपर नहीं उठता। उसका लक्ष्य श्लेष

"आँख का काजल शशि है, 'चख' (चक्षु) मीन लग्न है, ऐसे सुयोग में जिसका जन्म हुआ है, वह स्नेह (बालक) सर्व-शरीर रूपी देश पर अधिकार जमा कर क्यों न राज्य करेगा ?"

जितना ज्ञान ऊपर के इन दोहों में है उसके आधार पर बिहारी को ज्योतिषविद् कौन कह सकेगा ? फिर इन दोहों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर हम शोच में पड़ जाते हैं कि क्या बिहारी ने ज्योतिष का यह अच्छा उपयोग किया है ? यहाँ ज्ञान-प्रदर्शन ही सब कुछ है, सारे ग्रहों की नायिका अथवा शिशु के मुँह में अवतारणा करने में चमत्कार के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता । साथ ही रसबोध में बाधा पड़ती है ।

निम्नलिखित दोहे में ज्योतिषज्ञान का जैसा निंदनीय प्रयोग हुआ है, उसे क्यों छिपाया जाय । संक्रांति का अल्प समय पुण्य काल माना जाता है जिसमें लोग तीर्थों में मज्जन करते हैं और दान देते हैं । बिहारी उस पर वयःसंधि का आरोपण करते हैं और नायक को पुण्यलाभ का आदेश करते हैं—

तिय तिथि तरुन किसोर-वय पुन्य काल सम दोनु
काहूँ पुन्यनु पाइयतु बैस - संधि-संक्रोनु २७४

'हे नायक, नायिका ही तिथि है, किशोर वय का सूर्य है । किशोर और तरुण अवस्थाओं की सन्धि ही दो राशियों के मध्य का काल है । यह वयःसन्धि और संक्रांति दोनों समान पुण्यकाल हैं । इनकी प्राप्ति किसी बड़े पुण्य प्रताप से होती है । जो इस संक्रांति में—पर्वकाल में—गंगादितीर्थों का मज्जन करते हैं, वे ही उस पर्वकाल में पुण्य और सुख के भागी होते हैं । अतएव तुम उस तियतीर्थ में वयःसंधिकाल में क्रीड़ा करो, प्रेम का दान करो और अपने पुण्य का फल भोगो; नहीं तो इस वयःसन्धि के पूर्वकाल को व्यतीत हो जाने पर तुम पछताते रह जाओगे ।"

या भगवद्‌गीता की इस पंक्ति में—

मयि सर्वमिदंप्रोतं सूत्रे मणिगणा इव

न ढूँढ कर हम भूल नहीं करते। इस ज्ञान के लिए साधारण कविप्रतिभा व लोकज्ञान अपेक्षित थे, दर्शन-ज्ञान नहीं।

कुछ दोहों में कवि श्लोक को ही लेकर आगे बढ़ रहा है, जैसे तर्यौना, श्रुति, मुकुतन (२०), काननु (२३), गुन (४२८)। चमत्कार-प्रदर्शन ही उसका ध्येय है, यहाँ भी—

जोग जुक्ति सिखईं सबै मनो महामुनि मैन
चाहत प्रिय अद्वैतता कानन सेवत नैन १०३

को भलीभाँति हृदयंगम करने के लिए हमें उपनिषद् की उक्ति—"आत्मा वा ओ द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" तक जाना नहीं पड़ेगा।

यहाँ भी बिहारी ने दर्शनज्ञान को शृङ्गार के क्षेत्र में उतार कर उसे पदच्युत ही किया है; कहाँ परब्रह्म, कहाँ कटि, परन्तु बिहारी की रसिकता का चमत्कार देखिए—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किएँ नीठि ठहराइ
सूछम कटि परब्रह्म की अलख लखी नहिं जाइ ६४८

इस असंयत सूझ के लिए बिहारी को धन्यवाद देना चाहिए। उक्तिवैचित्र्य की प्रतिष्ठा करने के लिए दर्शन और धर्म के अन्यतम आलम्बन (परब्रह्म) की मिट्टी पलीद करना हमारे यहाँ की शैली नहीं रही है।

५—इतिहास-पुराण

कवि-शिक्षा के अंतर्गत इतिहास-पुराण का ज्ञानलाभ अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है। बिहारी-सतसई में ऐसे कितने ही दोहे मिलते हैं, जिनका आधार कोई पौराणिक कथा-प्रसंग

है—सुदर्शन=सुन्दर दर्शन और सुदर्शनचूर्ण; नारी=स्त्री और नाड़ी। वैद्यक ज्ञान का पता भी नहीं चलता—

मैं लखि नारीज्ञानु करि राख्यौ निरुधारु यह
वहई रोग निदानु वहै वैदु ओखधि वहै ५५७

"मैंने नारी-ज्ञान (नाड़ी-ज्ञान, नारी-ज्ञान अर्थात् स्त्रियों की चेष्टादि से उनका हाल जानना) देखकर यह निश्चय किया है कि तुम्हारे रोग का कारण वही है, तुम्हारी औषधि वही है, और तुम्हारा वैद्य वही है (जिसे तुम प्रेम करती हो)।"

यह विनसत नग राखिकैं जगत बड़ो जस लेहु
जरी विषमजुर ज्याइए आय सुदरशन देहु

"इस नाश को प्राप्त होनेवाले 'नग' (नारी-रत्न) की रक्षा करके जगत् में बड़ा यश प्राप्त करो। वह (विरह) विषमज्वाल में जल रही है, उसे सुदर्शन (सुन्दर दर्शन और सुदर्शनचूर्ण) देकर जीवित रखो।"

४—दर्शन

कवि का दर्शन-ज्ञान लक्षित हो, ऐसे आधे दरजन के लगभग दोहे हमें मिल जाते हैं, परन्तु भारतीय जीवन दर्शन-ज्ञान से इतना ओत-प्रोत है कि यह कहना भूल है कि बिहारी को इस ज्ञान के लिए षटदर्शन शास्त्रों के पन्ने उलटने पड़े होंगे। कवि कहता है—

मैं समझ्यो निरधार यह जग काँचों काँच सो
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत जहाँ १८१

इस दोहे में दार्शनिकों के प्रतिबिंबवाद की ओर संकेत है, परन्तु इसका उद्गम पञ्चदशी के इस श्लोक में—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यश पञ्चकम्
आद्यं त्रय ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।

एक दोहे में "वलि" अवतार की कथा का संकेत है, परन्तु यहाँ कवि ने फिर भगवान् को शृङ्गार भूमि में लाकर रसिकता का परिचय दिया है—

छ्वै छिंगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाय
वलि-वामन कौं ब्यौंत सुनि को वलि तुम्हैं पत्याय

एक दोहे में पौराणिक शिव-कृष्ण-युद्ध का संकेत है—

मोर-मुकुट की चंद्रिकन यों राजत नँदनंद
मनु ससिसेखर की अकस किए सिखर सतचंद

"मोरपंख के मनोहर मुकुट की चारुचंद्रिकाओं से नंदनंदन भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार शोभित होते हैं मानों चन्द्रमौलि भगवान् शंकर के विरोध से उन्हें नीचा दिखलाने के लिए अपने सिर पर सौ चंद्रमाओं को धारण किया हो।"

और एक अन्य दोहे में सीता की अग्नि-परीक्षा का उल्लेख मिलता है—

बसि सकोच-दस-वदन बस साँच दिखावत बाल
सियलौं सोधति तिय तनहि लगनि अगनि की ज्वाल

कृष्णकथा से सम्बन्धित कितने ही दोहे उदाहरण स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं जिनमें अघासुरवध, इंद्रगर्वहरण आदि कितने ही प्रसंगों को कवि ने अप्रस्तुत-विधान अथवा प्रसंग विधान के उपकरण चुना है।

है। उससे यह सिद्ध होता है कि बिहारी पुराणों से परिचित थे। सम्भव है, उन्होंने कुछ पुराण पढ़े हों। सुने तो अवश्य ही होंगे। स्वयम् जिस संप्रदाय को वे मानकर चले हैं उनमें भागवत पुराण माननीय ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त बिहारी का युग पौराणिक उत्थान का युग था। पुराण-कथा-पाठ का प्रचलन था। पुराणों के भाषानुवाद होते थे। उनकी कथाओं के आधार पर रचनाएँ होती थीं। फिर बिहारी-सतसई में कृष्ण और राधा के प्रेम-प्रसंग का वर्णन है, कहीं प्रकाश्य में, कहीं प्रच्छन्न रूप से नायक-नायिका की ओट में। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कठिन है कि बिहारी कितने बड़े पुराण-पंडित थे। उनके दोहों में मुख्य रूप से केवल महाभारत, रामायण और भागवत की कथाओं के सामान्य ज्ञान का पता चलता है। दो दोहों में उन्होंने दुर्योधन के सम्बन्ध में अपने ज्ञान को प्रकाशित किया है—

पिय बिछुरन का दुसह दुख हरष जात प्यौसार
दुरजोधन-लौं दीखियत तजत प्रान इहि बार

दुर्योधन को यह शाप था कि हर्ष और शोक एक साथ होने पर उसकी मृत्यु निश्चित है।

विरहविथा जल परस बिन बसियत मो हिय ताल
कछु जानत जलथंभ विधि दुरजौधन-लौं लाल

कथा है कि दुर्योधन को जलस्तंभन विद्या सिद्ध थी। इसी के बल से वह भारतोपरांत कई दिन तक एक सरोवर में छिपे रहे थे। एक दोहे में पांचाली की वस्त्रहरण कथा की ओर इंगित है—

रह्यो ऐंचि अंत न लह्यो अवधि दुसासन वीर
आली, बाढ़त विरह ज्यों पांचाली को चीर

यहाँ विरह को द्रौपदी का चीर बनाया गया है।

(३) चरणदास की टीका सं० १७५० (?)

(४) पठान सुलतान की कुण्डलियोंवाली टीका सं० १७६१

(५) अनवरचंद्रिका टीका (ले० शुभकरण और कमल-नयन) सं० १७७१

(६) राजा गोपालशरण की टीका (सं० १७७०—सं० १७८०)

(७) कृष्ण कवि की कवित्तबंध टीका सं० १७८२

(८) पन्नावाले कर्ण कवि की साहित्यचंद्रिका टीका सं० १७६४

(९) सूरति मिश्र की अमरचंद्रिका टीका सं० १७६४

(१०) रघुनाथ बंदीजन की टीका (यह स० १८०२ में उपस्थित थे)

(११) ईसवी खाँ की रसचंद्रिका टीका सं० १८०६

(१२) हरिचरणदास की हरिप्रकाश टीका सं० १६३४

(१३) लालकवि वंदीजनकृत लालचंद्रिका टीका सं० १८४० (१७८४) के आस-पास ।

(१४) मनीरामकृत प्रतापचंद्रिका टीका सं० १८५० (१७६४) के आस-पास ।

(१५) अमरसिंह कायस्थ राजनगर छतरपुर की अमर-चन्द्रिका टीका (?)

(१६) राधाकृष्ण चौबे कृत बिहारी सतसइया पर पद्य-टीका (?)

(१७) ठाकुर कवि कृत सतसैया वर्णार्थ अर्थात् देवकीनंदन टीका सं० १८६१

(१८) रणछोड़ जी राय दीवान की टीका सं० १८६०—सं० १८७० के बीच ।

(१९) महाराज मानसिंह जोधपुरवाले की टीका स० १८७० (?)

१०

बिहारी के टीकाकार

तुलसीदास के रामचरितमानस को छोड़कर किसी भी ग्रंथ पर साहित्यिकों और सुरसिकों का इतना ध्यान नहीं गया है जितना बिहारी की सतसई पर। सतसई की रचना के थोड़े ही समय बाद टीकाओं के दर्शन होने लगते हैं और इन टीकाओं की परंपरा आधुनिक समय तक चली आती है। शिवसिंह ने "सरोज" में कहा था कि उन्होंने "सतसई के १८ तिलक देखे हैं"। लालचंद्रिका की भूमिका में डाक्टर ग्रियर्सन ने १४ टीका-कारों (चंद्र, गोपालशरण, सुरति मिश्र, कृष्ण, करण, अनवर खाँ, जुल्फिकार, यूसुफ खाँ, रघुनाथ, लाल, सरदार लल्लूलाल, गंगाधर, रामवृत्त) के नाम गिनाये हैं। उन्होंने लिखा है कि इनके अतिरिक्त हरिचरणदास और ठाकुर की टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं।

श्री जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर ने ५२ टीकाओं के सम्बन्ध में विस्तृत और विवेचनात्मक सामग्री उपस्थित की है। स्पष्ट है कि ये सब टीकाएँ ही नहीं हैं, इनमें कुछ सतसई के अनुवाद एवं उनके दोहों पर व्याख्यात्मक ढंग से रचे गये कवित्त, दोहे और कुण्डलियाँ भी सम्मिलित हैं। नीचे हम इन टीकाओं एवं अनु-वादों को कालक्रमानुसार उपस्थित करेंगे :—

(१) कृष्णलाल की टीका सं० १७१६ (१६६२ ई०)

(२) मानसिह कवि विजयगढ़वाले की टीका सं० १७३० —सं० १७३४

(३६) गुलजारे बिहारी (अनुवाद) संवत् १६७५-१८८० के बीच

(४०) ला० भगवानदीन की बिहारी बोधिनी टीका सं० १६७८

(४१,४२,४३) कुलपति मिश्र, उमेदराय तथा सूर्यमल्ल की टीकाएँ (?)

(४४) धनीरामजी की टीका (?)

(४५) पंडित अम्बिकादत्त वर्णित संस्कृतगद्य टीका (?)

(४६) पण्डित हरिप्रसादकृत आर्यागुंफ टीका

(४७) एक अन्य संस्कृत गद्य टीका

(४८) शृंगार सप्तशती टीका (संस्कृतानुवाद)—लेखक परमानन्द भट्ट, सम्वत् १६२५

(४६) सवितानारायण कवि की भावार्थप्रकाशिका, गुजराती टीका सम्वत् १६६६

(५०) ईश्वर कवि कृत सवैया छन्द की टीका सं० १६६१

(५१) रामवृक्ष बेनीपुरी की टीका सम्वत् १६८२

(५२) श्री जोशी आनन्दीलाल जी शर्मा की फ़ारसी टीका १३१४ हिजरी ❀

इनके बाद स्वयम् रत्नाकर जी की "बिहारी रत्नाकर" टीका आती है। रत्नाकर जी ने लिखा है कि बाबू हरिश्चन्द्र ने भी बिहारी के कुछ दोहों पर कुण्डलियाँ बनाई जो "सतसई शृङ्गार प्रकरण" शीर्षक से "भाषासार" ग्रंथ में प्रकाशित हुईं और बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन पं० जोखूराम पंडा ने भी कुण्डलियाँ बनाईं। इन टीकाओं के अतिरिक्त और भी कितनी ही टीकाएँ मिल सकें,

❀ विशेष विवरण के लिए देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका खंड ९, १६२६ ई०। 'बिहारी-सतसई-संबंधी साहित्य लेखक' बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ० ५६-१२०; १४१-१६८; ३२८-३६०; खंड १०, पृ० ४७३-४६८।

(२०) लल्लूलाल जी की लालचंद्रिका टीका (१८१६ ई०)

(२१) रामजू की टीका सं० १६०१ (?)

(२२) नवाब जुल्फिकार अली की कुंडलियाँ सं० १६०३

(२३) ईश्वरप्रसाद कायस्थ कृत कुंडलियाँ (इनका जन्मकाल सं० १८८६ और कविताकाल सं० १६१० है)

(२४) सरदार कवि की टीका (यह सं० १६२०—१६३० के बीच बनी)

(२५) पद्माकरजी के पौत्र गदाधरजी की टीका सं० १६२५ के आस-पास।

(२५,२६) धनञ्जय तथा गिरिधर की टीकाएँ (?)

(२७) रसिक बिहारी की रसकौमुदी टीका सं० १६२७

(२८) कुलपति मिश्र के वंशज अयोध्याप्रसाद की टीका सं० १६३०

(२६,३०) रामबक्सकृत तथा गङ्गाधरकृत टीकाएँ

(३१) प्रभुदयाल पांडे की टीका सं० १६५३

(३२) छोटूरामकृत वैद्यक टीका (?)

(३३) पंडित अंबिकादत्त व्यास की कुंडलियाँ—बिहारी विहार (इनका जन्म-संवत् १६१५ और मृत्यु-संवत् १६५७ है)

(३४) पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत भावार्थ प्रकाशिका टीका सं० १६५४

(३५) साहेबजादे बाबा सुमेरसिंह की कुंडलियाँ सं० १६५५—सं० १६६०

(३६) मुं० देवीप्रसाद जी (प्रीतम) का उर्दू "गुल्दस्तए बिहारी" सं० १६६०

(३७) भानुप्रताप तिवारी की टीका सं० १६६० (?)

(३८) पंडित पद्मसिंह शर्मा की संजीवनभाष्य टीका सं० १६७५

में इन सब विषयों पर कोई स्थान नहीं मिला है। अधिकांश टीकाओं में शब्दार्थ, भावार्थ और अलंकार अथवा वक्ता-बोधव्य, सामान्यार्थ और अलंकार यही विशेष रूप से मिलेंगे। इसका कारण यह है कि परवर्ती काल में काव्य का विशेष गुण अलंकार माना जाने लगा था और बिहारी-सतसई अलंकारों के ज्ञान के लिए एक अच्छा कोष उपस्थित करती थी। यद्यपि बिहारी ने लक्षण-ग्रन्थ के रूप में "सतसई" की रचना नहीं की, परन्तु पठन-पाठन के लिए यही काम उससे अधिक लिया गया। "ध्वनि" की चर्चा बहुत कम हुई—अनवर-चंद्रिका और साहित्य-चंद्रिका में। अलंकारों का निर्देश सर्वत्र एक-सा नहीं है, अर्थ-भेद के साथ भेद होना आवश्यक था, परन्तु अनेक टीकाओं में केवल पांडित्य-प्रदर्शन अथवा वैभिन्न्य-प्रदर्शन के लिए अलंकारों में भेद किया गया है या एक दोहे में कई अलंकारों की स्थापना की गई है। किसी-किसी टीका में अलंकार निर्देश के बाद लक्षण भी दोहे में दे दिया गया है। प्रत्येक दोहे के पीछे किसी प्रसंग की कल्पना करने एव वक्ताबोधव्य का अनावश्यक आरोप करने के कारण अर्थ भी कहाँ तक ठीक हो सके हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। फिर कितनी ही टीकाएँ वास्तव में दोहों और कवित्तों में किये गये स्वतंत्र अनुवाद हैं या कुण्डलिया-सवैया में दोहे की विस्तार-पूर्वक व्याख्या है—

पार्यो सोरु सुहाग को इन बिनुहीं पिय नेह
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौंही देह

बिहारी के इस दोहे पर ईश्वर कवि का सवैया है—

देखिकै आवत बालबधू बतरानीं सबै करि आप सनेह है
ईस्वर देखौ करै मिस कैसे हरै मन मारुत यों नये मेह है
पीतम हीं बिन पार्यौ सुहाग को यानै अरी अब हीं करि नेह है
कीनीं उनींदी भली अँखियाँ अरु सौहैं करी अलसौहीं सी देह है

ऐसा सम्भव है। "बिहारी-दर्शन" ग्रन्थ के लेखक का कहना है कि उन्हें मध्यप्रांत में बिहारी-सतसई की अनेक टीकाओं का पता लगा है, जिनका उल्लेख श्री रत्नाकर एवं श्री मिश्र-बंधुओं ने नहीं किया है जिनमें चार पद्यात्मक टीकाएँ उनके देखने में आई हैं।[1]

ऊपर जिन टीकाओं और अनुवादों का नामोल्लेखन है उन पर थोड़ा विचार करना ठीक होगा। ये टीकाएँ और अनुवाद ५ भाषाओं में हैं—४५, ४६, ४७, ४८ संस्कृत में हैं; ४९ गुजराती में; ५८ फ़ारसी में; ३६, ३९ उर्दू में; शेष हिन्दी में। हिन्दी टीकाओं और अनुवादों में खड़ीबोली की अपेक्षा ब्रजभाषा को अधिक स्थान मिला है। खड़ीबोली की पहली टीका भी प्रभुदयाल पांडे (सं० १९५३) की है।

जिन टीकाओं और अनुवादों का उल्लेख है उनमें बहुत-सी अब भी अप्राप्य हैं (जैसे २४,२५ या ३२) जिससे उनके संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु जो प्राप्य हैं उनमें कुछ को छोड़ कर अन्य का विशेष महत्त्व नहीं है, उदाहरण-स्वरूप, अन्य भाषाओं में जो अनुवाद और टीकाएँ हैं उनसे बिहारी-सतसई की लोकप्रियता पर प्रकाश पड़ता है। इससे अधिक उनका कोई महत्त्व नहीं है। कहीं-कहीं तो टीकाकारों ने भाषा-परिचयहीनता के कारण मनमाने पाठांतर गढ़ लिये हैं और तदनुसार अर्थ का अनर्थ कर डाला है। प्राप्य हिन्दी टीकाओं में से भी कुछ ही महत्त्वपूर्ण हैं। टीकाकारों ने जो कुछ कहा है उन्हें इन शीर्षकों में बाँटा जा सकता है—वक्ता-बोधव्य, प्रसंग-निर्देश, शब्दार्थ, भावार्थ, अथवा सामान्यार्थ, नायिका-भेद, अलंकार, ध्वनि, प्रश्नोत्तर या शंका-समाधान, तुलनात्मक आलोचना और दोहे के सौन्दर्य का उद्घाटन। परन्तु किसी एक टीका

---

१ "बिहारी-दर्शन"—लेखक पं० लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी, पृ० ३६

परन्तु महत्त्व अधिक नहीं होगा। परन्तु पिछले २५०-३०० वर्षों के काव्य-साहित्य में बिहारी-सतसई के दोहों के आधार पर कुण्डलियाँ, कवित्त और सवैया रचने की जो परम्परा चलती रही, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। साहित्य के इतिहास में उसका भी स्थान है।

ग्रियर्सन ने बिहारी-सतसई पर लिखते हुए उसे कई जगह "अक्षर-कामधेनु" लिखा है। वास्तव में, बिहारी सतसई की प्रसिद्धि इसी रूप में थी। एक-एक शब्द को कई-कई तरह से तोड़ा गया और दोहे के मनचाहे अर्थ निकाले गये। प्रतिभा का यह दुरुपयोग हमारे समय तक चला आता है, जैसे—

कन दैबो सौंप्यौ ससुर बहू थुरहथी जानि
रूप-रहँचटे लगि लग्यो माँगन सब जग आनि

शब्दार्थ—स - सुर - बहू=देवांगना - सहित, लक्ष्मी तक। थुरहथी=छोटे हाथ वाला, कृपण, कंजूस। जानि = ज्ञानी (व्यंग से मूर्ख)। मा-गन = लक्ष्मी का ढेर। रूप = रूपये

भावार्थ—कोई सत्योपदेशक किसी कंजूस के प्रति कह ता है—हे छोटे हाथ वाले ज्ञानी, (अर्थात् मूर्ख कंजूस) ईश्वर ने तुझे धन, यहाँ तक कि स्वयं लक्ष्मी ही इसलिए सौंपी है कि तू सब को भिक्षा दे, परन्तु तू तो रुपये के लालच में पड़कर ऐसा बिगड़ा कि सारे संसार से ला-ला कर लक्ष्मी का ढेर लगाने लगा (यह उचित नहीं)

यह अर्थ जिन स्वर्गीय लाला भगवानदीन का किया है, उन्होंने दूसरे स्थान पर (बिहारी-बोधनी में) अर्थ इस प्रकार दिये हैं—

शब्दार्थ—कन = (कण) भिक्षा। थुरहथी = छोटे हाथों वाली। रहँचट = चाह, लालच। लगि = लगकर।

और नवाब ज़ुल्फ़िकार अली की कुण्डलिया है—

पार्यौ सोरू सुहाग को इनु बिनुहीं पियनेह
उनदौंहीं अँखियाँ ककै कै अलसौहीं देह

कै अलसौहीं देह खिसौंही सी कै ठाढ़ी
प्रीति जनावति अधिक रीति रति की जो गाढ़ी

गाढ़ी करि अँग आँगि घाघरौ घनो बिगार्यौ
हार्यौ हियौ दिखाइ अनोखौ आनँद पार्यौ

इनको टीका नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में बिहारी-सतसई ने कवियों के लिए एक नया क्षेत्र उपस्थित कर दिया। सतसई परम्परा चल पड़ी। "मतिराम सतसई", "शृङ्गार-सतसई", "विक्रम-सतसई" और "रतन हजारा" जैसे दोहा-ग्रन्थों में बिहारी की भाषा, भाव और शैली की सम्पत्ति को ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से अपनाने की चेष्टा स्पष्ट है। यहाँ कवियों ने सब प्रतिभा का उपयोग किया है और यद्यपि वे बिहारी के ऋणी हैं परन्तु उनमें पर्याप्त मौलिकता है। परन्तु एक दूसरी परंपरा भी चली। इसमें कवि का क्षेत्र सीमित था, शायद उनमें प्रतिभा उतनी नहीं थी जितनी पिछले कवियों में; वह बिहारी के दोहे के भाव को ही कवित्त, सवैया या कुण्डलिया में उपस्थित करके कविकर्म की समाप्ति समझ लेता था। पठान कवि, नवाब ज़ुल्फ़िकार, ईश्वरीप्रसाद, अंबिकादत्त व्यास, बाबा सुमेरसिंह, भारतेन्दु और पं० जोखूराम का कुण्डलिया साहित्य और कृष्ण-कवि, जानकीप्रसाद (रसिकबिहारी, ऋषिकेश), ईश्वर कवि आदि का कवित्त-सवैया-साहित्य वास्तव में टीका क्षेत्र में न आकर इसी क्षेत्र में आता है। साहित्य-क्षेत्र में इस प्रकार के अनुवादों का क्या महत्त्व होगा, यह हम नहीं कह सकते

सतसई की आलोचना में चाहे जो भी लिखा जाय और जितना भी लिखा जाय, उनकी सबसे सुन्दर आलोचना जन-साधारण में प्रचलित इस दोहे में बँधी हुई है और उसकी प्रसिद्धि से यह जान पड़ता है कि जनता का हृदय बिहारी को किस रूप में स्वीकार करता है —

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर
देखत में छोटे लगैं घाव करैं गंभीर

वचन—कवि की उक्ति।

भावार्थ—बहू को छोटे हाथोंवाली जानकर ससुर ने भिक्षा देने का काम सौंपा (यह समझकर कि कम अन्न खर्च होगा) परन्तु उसके रूप के दर्शन के लालच में पड़कर सारा संसार ही भिक्षुक बनकर उसके द्वार पर भिक्षा माँगने के लिए आने लगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी सतसई के टीकाकारों ने बिहारी के पांडित्य-प्रदर्शन के प्रसंग में अपना पांडित्य प्रदर्शित किया है। जहाँ इस प्रकार का प्रयत्न नहीं है, साहित्य-शास्त्र को ही सामने रखा गया है, वहाँ टीकाकार अवश्य सफल हुए हैं।

बिहारी के सम्बन्ध में आलोचना भी बहुत समय से चलती आई है। गोस्वामी राधाचरण जी कहते हैं—

"यदि सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास" हैं तो बिहारी पीयूषवर्षिणी मेघ हैं जिसके उदय होते ही सब का प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहुकने, मनोमयूर नृत्य करने, और चतुर चातक चहकने लगते हैं, फिर बीच-बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत चमकती है, वह हृदय में छेद कर जाती है।" यह प्रारम्भिक आलोचना है। बाद को श्री राधाकृष्णदास, प० रामचन्द्र शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास), पं० अंबिकादत्त व्यास (बिहारी-बिहार की भूमिका), डा० ग्रियर्सन (लालचन्द्रिका की भूमिका) ने बिहारी के अनेक गुणों का उद्घाटन किया है एवं पं० लोकनाथ सिलाकारी (बिहारी-दर्शन) और पं० विश्वनाथ मिश्र (बिहारी की वाग्विभूति) ने बिहारी पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे। "देव-बिहारी" के झगड़े ने भी बिहारी के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। श्री रत्नाकरजी की खोजों ने बिहारी की जीवनी और कला पर निर्णयात्मक प्रकाश डाला है। इस प्रकार आज हमारे सामने बिहारी के संबंध में प्रचुर आलोचनात्मक साहित्य उपस्थित है। परन्तु बिहारी-

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के आदिकाल से शृंगार-रस का निरूपण होता चला आ रहा है परन्तु उस पर वीरता अथवा अध्यात्म का आवरण है। धारा प्रच्छन्न रूप से चल रही है। आगे चलकर मुग़लकालीन विलासिता और संस्कृत के उत्तर कालीन कवियों और आचार्यों के प्रभाव से जल ऊपर आ गया है और धारा साफ़ दिखलाई पड़ती है। १६वीं शताब्दी के ५० वर्ष बीतते-बीतते उसने केशवदास जैसे कवि को जन्म दे दिया है। अब उसके अस्तित्व में संदेह ही नहीं रहा।

शृंगाररस और रीति-प्रधान रचनाओं का एक दूसरा पहलू भी है। इन रचनाओं का सूत्रपात अधिकतः संस्कृत रीति-आचार्यों के रस, अलंकार या ध्वनि-सम्बन्धी सूत्रों को पकड़कर हुआ है अथवा इस युग के कवियों की एक विशेष प्रेरणा यह रही है कि वे रीतिशास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथ लिखें और उदाहरण में अपने ही रचे पद रखें। इन कवियों में अधिक पांडित्य और अध्ययन न था, न मौलिक तर्कशक्ति ही थी। फल यह हुआ कि एक बहुत बड़ा साहित्य ऐसा तैयार हो गया जिसमें एक दोहे में लक्षण और कवित्त या सवैया में उसका उदाहरण रहता। उदाहरण सदा लक्षण पर पूरा उतरे, यह बात भी नहीं। कभी-कभी दो लक्षण एक ही ठहरे, कभी लक्षण ही अस्पष्ट और ग़लत परन्तु उदाहरण अधिक उच्चकोटि के होते। वास्तव में आचार्यत्व का दम भरने-वाले रीतिकालीन उच्च कवि प्रतिभासम्पन्न कविमात्र थे।

रीतिकाल के कवियों का एक दूसरा वर्ग भी था जो लक्षणग्रंथ तो नहीं लिख रहा था, स्वतंत्र कविता था, परन्तु अलंकार सदा उसके सामने रहता। इसके अतिरिक्त उसकी मुक्तक रचनाएँ संस्कृत आचार्यों के उन मुक्तकों से प्रभावित रहतीं जिन्हें उन्होंने अपने ग्रन्थों में उदाहरण-स्वरूप रखा था।

११

रीति-काव्य में बिहारी का स्थान

रीति-काव्य की मूल भावना शृंगार है। पुरुष-स्त्री के प्रकृत प्रेम का वर्णन, उनके यौवन-विकास, केलिविलास, हास-परिहास, संयोग-वियोग इस काव्य के विषय हैं। हम देखते हैं कि शृङ्गार की भावना ने हिंदी के प्रारम्भिक काल में ही हमारे साहित्य में प्रवेश कर लिया था। इस भावना को हम राजपूत चारणों की वीर-कथाओं के केन्द्र में उपस्थित पाते हैं। "रासो" के इतने सभी युद्धों का कारण स्त्री का सौन्दर्य है। आल्हा-ऊदल की लड़ाइयों में वीररस पूर्वराग से ही परिचालित है, समाप्ति परिणय-ग्रंथि में होती है। नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो तो नाममात्र को वीर-काव्य है। उसमें नग्न विलास के वर्णन हैं। राजमति के वियोग-चित्रण के सिवा कवि का क्या उद्देश्य हो सकता है? उसे तो वीर-कथा-काव्य मानने की परिपाटी भर पड़ गई है जो इतिहासों में चली आती है। इसी प्रकार हम सिद्ध कवियों की साधनाओं के पीछे रतिभाव का विकृत रूप पाते हैं। इंद्रिय-जन्य विकारों को साधना का मार्ग बनाया जा रहा है। विद्यापति के कृष्ण-काव्य से यदि राधा-कृष्ण के नाम हटा लिये जायें तो कुछ थोड़े-बहुत पदों को छोड़कर उनके सारे साहित्य से अध्यात्म का आवरण उतर जाता है। यही बात सूफ़ी कवियों के सम्बन्ध में पूर्णतः चरितार्थ है। कृष्ण-काव्य के इतर कवियों की मनोवृत्ति के विषय में तो कोई संदेह नहीं। 'मधुरभक्ति' में लौकिक प्रेम को ही ईश्वरोन्मुख किया जा रहा है।

रखा है जो "ब्रह्मवैवर्त्त पुराण" में दिखलाई पड़ता है, परन्तु उसे स्थूल लौकिक तल से उठाकर ऊँचे रहस्यमय सूक्ष्म अलौकिक तल पर स्थिर कर दिया है। सब ले-देकर जयदेव का काव्य भक्ति-काव्य ही माना जाना चाहिये।

विद्यापति ने प्रेरणा जयदेव से ली, परन्तु कृष्णकथा का मौलिक प्रवर्त्तन किया। उसे निश्चित रूप से शृंगार-काव्य सम्भूत पूर्वराग, मिलन, मान, मानमोचन, दूती, विरह पुनर्मिलन के प्रकरणों पर स्थापित किया। भक्ति शृंगार के नीचे दब गई। सम्भव है, वह अधिक मात्रा में थी भी नहीं। परन्तु विद्यापति को ही यह श्रेय है कि उन्होंने पहली बार कृष्ण-राधा का रीतिशास्त्र की शृंगार-पद्धति से सम्बन्ध जोड़ा। पुराणों में कृष्ण-राधा का विलास-वर्णन मिलेगा परन्तु एक 'गर्गसंहिता' के 'पूर्वराग' के प्रसंग को छोड़कर वह क्रम कहीं नहीं मिलेगा जो विद्यापति ने अपने काव्य के लिये खोज निकाला। विद्यापति के पद ब्रजभूमि में भी प्रचलित हो गये और इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास उनसे परिचित थे परन्तु उन्होंने बहुत से रूपकों की सृष्टि कर कृष्णकथा के लिए अपना एक स्वतंत्र ढाँचा खड़ा किया जिसमें रीति-पद्धति की उपेक्षा की गई थी और कथा के स्वाभाविक विकास और उससे भी अधिक रूपकों की पुष्टि पर ध्यान दिया गया था। फिर भी खंडिता, हिंडोला, जल-विहार आदि रूपकों के अन्तर्गत रीतिशास्त्र की बहुत-सी सामग्री स्वतः ही आ गई, सूरदास लाचार थे।

रीति-कवियों के सामने विद्यापति और सूरदास दोनों थे, यही नहीं अष्टछाप की प्रचुर सामग्री थी, परन्तु उन्होंने उनमें से किसी की सामग्री को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। उन्होंने राधाकृष्ण का जो रूप अपने सामने रखा वह उस रूप से बिलकुल मिलता था जो विद्यापति ने उपस्थित किया, परन्तु वह न ऐसा निश्चित था,

दोनों प्रकार के कवि, जैसा हम अभी कह चुके हैं, आचार्यों के ग्रन्थों से प्रभावित थे, परन्तु आचार्यों के इन ग्रन्थों (मम्मट का काव्यप्रकाश, पं० जगन्नाथ का भामिनी-विलास, अप्पय दीक्षित आदि की रचनाएँ) के अतिरिक्त और भी साहित्यिक प्रभाव उन पर पड़े, इसके सिद्ध करने के लिए हमें विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। यह प्रभाव कहीं स्वतंत्र रूप से उन्हीं के द्वारा ग्रहीत हुए, कहीं पूर्ववर्त्ती भक्त-कवियों की कविताओं में होकर उनके काव्य में आये। पहले हम उन प्रभावों को लेंगे जो भक्त-कवियों से होकर रीति-काव्य में आये—

(१) रसराज का प्रधानत्व और शृंगार का रसराजत्व संस्कृत काव्य में ही स्वीकार किया जा चुका था। संस्कृत काव्य में ही भक्ति और शृंगार बहुत कुछ पास आ गये हैं। हर-गौरी का शृंगार एवं विलास कवि-परम्परा में खूब चला। बाद को जब पुराणों ने कृष्ण के क्रमशः अधिक विकसित शृंगारिक रूप को जनता के सामने रखा तो कवियों की कल्पना उद्दीप्त हो उठी। जहाँ तक हम जानते हैं; पहले-पहल जयदेव ने गीतगोविन्द में कृष्ण-राधा को अभिनव रूप में उपस्थित किया। "चाहे भक्ति समझ लो, चाहे हरिकथा, चाहे विलास।" वास्तव में इसमें जयदेव की मौलिकता नहीं थी। यह हर-गौरीवाले पुरातन दृष्टि-कोण का ही नवीन संस्करण था। जयदेव ने अपने काव्य को भागवत के आधार पर खण्डकाव्य के रूप में खड़ा किया था और यद्यपि उन्होंने दूती और अभिसार के प्रसंग रखे थे परन्तु कथा को निश्चित रीति-पद्धति पर आगे नहीं बढ़ाया था। उनके काव्य में दूती और अभिसार प्रसंगवश आये हैं। दूसरी ओर उनके "गीतगोविन्दम्" में शब्दों की कोमलता, छन्दों की हिल्लोल-वृत्ति और संगीत का प्राचुर्य एक रहस्यात्मक वातावरण उपस्थित कर देते हैं और यद्यपि उन्होंने राधा-कृष्ण का लगभग वही रूप

(३) भक्ति और वैराग्य-सम्बन्धी अनेक धारणाओं और शैलियों के लिए भी रीतिकाव्य कृष्णकाव्य का ऋणी है, जैसे बिहारी की यह भावना—

मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज
अपनैं अपनैं विरद की दुहूँ निवाहन लाज

परन्तु इन्हें भक्ति-काव्य का ही Projection समझना चाहिये। रीतिकाव्य की मूल प्रवृत्ति से ये अपरिचित हैं।

संस्कृत लक्षणग्रंथों का प्रभाव भक्तिकाव्य पर ही बहुत कुछ पड़ चुका था। विद्यापति काव्यप्रकाश से भलीभाँति परिचित हैं। उनके लिए काव्यप्रकाश की एक टीका ही प्रतिलिपि कराई गई थी। कदाचित् राधा के सद्यःस्नाता रूप से चित्रण के लिए प्रेरणा उन्हें काव्यप्रकाश से ही हुई। रीतिकाव्य में संस्कृत ग्रंथों के आधार पर जब रीतिग्रन्थ लिखे जाने लगे तो यह असम्भव था कि कवि लक्षणों तक ही सीमित रहते। संस्कृत लक्षण-ग्रंथों में उदाहरण-स्वरूप जो सामग्री थी उसने भी उन्हें प्रभावित किया। जिन लक्षण-ग्रन्थों ने रीतिकाव्य को प्रभावित किया वे हैं ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धनाचार्य), काव्यमीमांसा (राजशेखर), काव्य-प्रकाश (मम्मट), साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) और कुवलयानन्द (अप्पय दीक्षित)। आनन्दवर्धनाचार्य ने कह ही दिया था—

दृष्टपूर्वा अपिह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात्।
सर्वेनवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमः॥

फिर क्या था कवियों ने उनकी तथा पिछले कितने ही संस्कृत कवियों की सामग्री को हिंदी में ढालना आरम्भ किया, परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य ने केवल "छाया-"ग्रहण के किये कवियों को स्वतन्त्रता दी थी, फिर यह आवश्यक बना दिया था कि नूतन-

न ऐसा सुगठित था, जैसा विद्यापति के काव्य में उतरता है। उन्होंने साधारण नायक-नायिकाओं के अनेक प्रसंगों का कृष्ण-राधा पर आरोप कर दिया और इस प्रकार समालोचकों के लिए एक समस्या उत्पन्न कर दी। एक पद में नायक-नायिका का मान है, कृष्ण-राधा का कोई संकेत नहीं, दूसरे पद में कृष्ण-राधा का वाग्विनोद है, इसे कृष्णकाव्य कहा जाय या रीतिकाव्य ? स्वतंत्र ग्रंथों में ही नहीं, लक्षणग्रन्थों में भी जो उदाहरण हैं, उनमें भी यही समस्या मिलती है। उन्होंने (रीति-कवियों ने) दानलीला हिंडोला आदि प्रसंग सूरदास प्रभृति कवियों के काव्य से लिए, परन्तु लीला-प्रसंग में भी बहुत-से प्रसंग अपनी ओर से जोड़ दिये जैसे—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल
कंपि किसोरी दरसि कै खरैं लजाने लाल

(बिहारी)

विपरीत रति, पुष्प-समर, राधा-विरह, गोपी विरह, रास आदि के कितने ही प्रसंग रीतिकाव्य का विशिष्ट अंग है और उसके लिए वह निश्चय ही हिन्दी के कृष्णभक्ति-पद साहित्य का ऋणी है। शृंगार का जो अंश इस साहित्य में था वह सहज ही रीति-काव्य में आ गया है।

(२) कृष्णभक्ति-काव्य ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में ही देखा था यद्यपि उसमें वह ऊहात्मकता नहीं चली थी जो रीति-काव्य में दिखलाई पड़ती है, कारण यह है कि कृष्ण-काव्य का एक निश्चित आधार था। रीति काव्य उड़ा-उड़ा फिरता था। जहाँ से अपने प्रकृति से मिलती-जुलती चीज मिली, उसने ली। प्रकृति-चित्रण की अपनी विशिष्ट शैलियाँ उसने दूसरे स्थानों से लीं, परन्तु उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण का जो प्रयोग कृष्ण-काव्य में हुआ है, उससे वह परिचित था।

तीज परब सौतिन सजे भूषन बसन शरीर।
सबै मरगजे मुँह करी वहै मरगजे चीर ॥ ३३

हल्लफलक्ष्ण पसाहि आएँ च्णवासरे सवत्तीणम्
अज्जाएँ भज्जाणाणअरेण कहिअं व सोहग्गम् ॥
(गाथा ११७९)

कंजनयनि मज्जन किये वैठी व्यौंरति वार
कच अंगुरिन विच दीठि दै चितवति नन्दकुमार

चिकुरविसारणतिर्यहंनतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि वाला
स्वामियमङ्गुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति।
(आर्या २३१)

मोरचंद्रिका स्यामसिर चढ़ि कत करत गुमान
लखबी पायनि पर लुठति सुनियत राधा मान

मधुमथन मौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किं मुधाराधाम्
यत्तव पदमदसीयं सुरभयितु सौरभोद्भेदः (वही ४३१)

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिंग जाय
हँस्यौ खिसानौ गर गह्यौ रही गरे लपटाय

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्रा व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता वाला चिर चुम्बिता।
(अमरुकशतक ८२)

ार खोज करने पर कितने ही संस्कृत मुक्तकों में ऐसे दोहे
ाते हैं जिनको विहारी ने अवश्य ध्यान में रखा है। इस
विहारी के माध्यम द्वारा संस्कृत मुक्तक-साहित्य का एक
ाग हिन्दी रीतिकाव्य का अङ्ग हो गया। वाद के कवियों ने
ो सतसई को आधार वनाया, उन्हें संस्कृत अथवा प्राकृत

स्फुरण एवं चमत्कार से साथ हो,[1] इस बात को भुला दिया गया।

इन रीतिग्रन्थों में उदाहरण के रूप में जिन कवियों की रचनाएँ रखी गई थीं, उनकी ओर हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थकारों और कवियों का ध्यान जाना अस्वाभाविक बात नहीं थी। ये थे गाथासप्तशती, अमरुकशतक, आर्यासप्तशती, कालिदास, माघ आदि। इन सभी का हिन्दी रीतिकाव्य पर अमिट प्रभाव पड़ा है। "शप्तशतियों" ने "सतसई" का आविर्भाव किया। अन्य मुक्तकों कवित्त, सवैया आदि पर भी इनका कम प्रभाव नहीं पड़ा। बिहारी-सतसई में पिछली दोनों सतसइयों और अमरुक-शतक के कितने ही भाव छायारूप में ग्रहण कर लिये गये हैं और शैली, ध्वनि, व्यंजना आदि की दृष्टि से इन्हीं रचनाओं को आदर्श मानकर चला गया है। बिहारी का प्रसिद्ध दोहा:—

नहिं पराग नहिं मधुर रस नहिं विकास इहि काल
अली कली ही तें बँध्यो आगे कौन हवाल

आर्यासप्तशती के निम्नलिखित दोहे का ही अधिक उत्कृष्ट रूपांतर है—

पिब मधुप ! वकुल कलिका, दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय
अधरविलेप्य समाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥ ३९७ ॥

यद्यपि विशेष परिस्थिति के कारण इसमें काव्य की मात्रा विशेष हो गई है। अन्य कितने ही दोहों के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है—

१—यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरित मिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकवि रुपनिबध्नन् निन्द्यता नोपयाति ॥

विहारी ने भी उसे "सूक्ष्म कटि परब्रह्म लौं" कह दिया।

प्रकृति-वर्णन के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह पता चलता है कि कालिदास के समय में ही उद्दीपन के रूप में प्रकृति-वर्णन को अधिक श्रेय मिलने लगा था और वस्तुवर्णन बहुत कम हो गया था। धीरे धीरे पटऋतुवर्णन का विकास हुआ। इसे 'उद्दीपन काव्य' भी कह सकते हैं। हिन्दी में आरम्भ से ही उद्दीपन रूप में स्वतन्त्र वर्णन 'पटऋतु और वारहमासे' के रूप में लिखे जाने लगे। रीतिकवियों ने उन्हें अन्यतम उच्चकोटि तक पहुँचा दिया। सारी प्रकृति, सारी ऋतुएँ उद्दीपन मात्र। इस पटऋतु और वारहमासे की वँधी परम्परा के वाहर भी वहुत लिखा गया, परन्तु जो लिखा गया उसका ध्येय प्रकृति-निरूपण के स्थान पर अलंकार-पांडित्य प्रदर्शन ही अधिक था। इस प्रकार का चित्रण तो आदि कवि में चन्द्रोपालम्भ (सुन्दरकाण्ड) के प्रकरण में भी मिलता है, परन्तु वाद के संस्कृत काव्य में तो चन्द्रोपालंभों और इसी प्रकार के असंयत, ऊहात्मक कथनों की भरमार है—

संग्रामाङ्गरणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वर
व्यादीर्णाकृत मध्यभाग विवरोन्मीलन्नभोनीलिमा
अङ्गारप्रखरैः करैः कवल यन्नेतन्मही मण्डलं
मार्तंडोयमुदिते केन पशुना लोके शशाङ्कीकृत।
(पं० जगन्नाथ—भामिनी-विलास)

चन्द्रोदय को देखकर विरही कहता है—अङ्गारों की तरह तीक्ष्ण किरणों से भूमण्डल को भस्म करता हुआ यह तो प्रचण्ड मार्तण्ड निकल रहा है। कौन पशु इसे चन्द्रमा कहता है? इसमें जो श्यामता दीखती है, वह शशलांछन नहीं है, किन्तु रणभूमि में सम्मुख लड़कर मरे हुए वीर क्षत्रियों के द्वारा फटे हुए मध्यभाग से आकाश की नीलिमा चमक रही है।

ग्रन्थों तक पहुँचने का कष्ट नहीं करना पड़ा। कम-से कम उत्तर रीतिकाल में कवियों ने संस्कृत ग्रन्थों का आश्रय अधिक नहीं लिया, वे अपने पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों को ही आदर्श मान कर चले। वास्तव में विरह-वर्णन और प्रकृति-वर्णन सम्बन्ध में तो एक विशिष्ट शैली ही बँध गई थी। विशेष कुछ करना-धरना था ही नहीं। कवियों ने निश्चित पगदण्डी पर ही चलना सरल समझा। वे लीक छोड़कर नहीं बढ़े। परन्तु हमें यह भी याद रखना चाहिये ठीक उक्त दोनों विषयों में जो रीति प्रथा रीतिकाव्य के पूर्ववर्ती कवियों ने चलाई, वह स्वयम् संस्कृत कवियों की "उच्छिष्ट" चीज़ थी। विरह-वर्णन में देह की कृशता और ताप का कथन बहुत पहले से चला आता था—

विरह-कृशता के सम्बन्ध में बिल्हण लिखते हैं—

प्राता तथा तानवमङ्गयष्टि-
स्त्वद्विप्रयोगेण कुरङ्ग दृष्टेः
धत्ते गृहस्तम्भनिवर्त्तितेन
कम्पं यथा श्वास समीर णेन।

विरहताप के सम्बन्ध में हर्ष लिखते हैं—

कुलजा न पृथुर्दवथुव्यथा विरहजैव पृथुर्यदि नेहशम्
दहनमात्तु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः।

इसी तरह कटि की सूक्ष्मता पर संस्कृत के काव्य में बहुत कुछ कहा जा चुका था। पं० जगन्नाथ ने कमर की सूक्ष्मता समझाने के लिए शून्यवाद का आश्रय लिया था—

अनल्पं वादीन्द्रगणित महायुक्ति निवहै-
निरस्ता निस्तारं क्वचिदकलयंती तनुमपि
असत्ख्याति-व्याख्याधिक चतुरिमाख्यात महिमा
[illegible]नेयं युगलमलसिद्धान्त सरणिः।

खेलति चोरमिहीचिनी निजु सखि डीठि बनाइ
स्याम दुरे तिहि कोन में दुरत लए उर लाइ
मोहि रुचे सोई करै अति उदार स्यों ज़ान
मो मन साथ रहै सदा करौं कौन विधि मान

परन्तु असल में यह परम्परा १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही अथवा उससे भी कुछ पहले जाती है क्योंकि कृपाराम ने अपने पूर्ववर्ती रीति कवियों के नाम लिये हैं। इनके समसामयिक कवि करनेस और मोहनलाल मिश्र के अप्राप्त ग्रंथों रामभूषण, अलंकारचन्द्रिका और शृङ्गार-सागर का उल्लेख करना अनुचित न होगा। इसी समय हमें रहीम के बरवै और गंगा के कवित्त मिलते हैं। छंद बदले हैं, परन्तु बात उसी ढङ्ग की है —

करत नहीं अपरधवा, सपनेहुँ पीव
मान करै की सधवा, रहि गइ जीव
(बरवै नायिका-भेद)

बैठी है सखिन संग पिय को गमन सुन्यो
सुख के समूह में वियोग आग भरकी
"गङ्ग" कहै त्रिविध सुगन्ध लै बह्यौ समीर
लागत हीं ताके तन भई व्यथा ज्वर की
प्यारी को परसि पौन गयौ मानसर में सु
लागत ही औरैं गति भई मानसर की
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भई
जल जरि गयो पंक सूक्यो भूमि दरकी
(गङ्ग)

इनके बाद हमें केशवदास के बड़े भाई बलभद्र मिश्र का पं० 'नखशिख' संबंधी-ग्रंथ मिलता है, परन्तु हिन्दी-काव्य-संसार की दृष्टि जिस रीति कवि की ओर पहले पहल जाती है, वे हैं महाकवि केशवदास। रीति-काल के कवियों में वे अग्रगण्य हैं। केशवदास ने "रामचन्द्रिका"

श्लेष के लिए आकाश पाताल ढूँढ़े जाने लगे और उन श्लिष्ट शब्दों के बल पर प्रकृति-चित्रण किया जाने लगा। बसन्त की सार्थकता यही समझी जाने लगी कि विरही उसे देख-देख कर प्राण दे-दे—

सव्याधेः कृशता क्षतस्य रुधिरं दष्टस्य लालास्रुतिः
किञ्चिन्नैतदिहास्ति तत्कथमसौ पान्थस्तपस्वीमृतः
आः ज्ञातं मधुलम्पटैर्मधुकरैरारब्ध कोलाहले
नूनं साहसिना रसाल मुकुले दृष्टिः समारोपिता।

(कादम्बरी)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिंदी रीतिकाव्य ने संस्कृत काव्य से बहुत कुछ उधार लिया। यही नहीं, उसने अपभ्रंश और प्राकृत से भी बहुत कुछ लिया। प्राकृत की गाथा-सतसई की बात हम अन्य स्थानों पर कर चुके हैं। अपभ्रंश का भी ऋण है। 'दोहा' (दोधक, दोहय दूहा) का पहला परिचय हमें यहीं होता है और बहुत से शृङ्गार दोहे मिलते हैं और हेमचन्द्र के व्याकरण इसी प्रकार के ग्रन्थों के उदाहरण संगृहीत हैं। इनके अध्ययन से पता चलता है कि सातवाहन की गाथा सप्तशती की एक परम्परा प्राकृत और अपभ्रंश में बराबर चली आती रही। यह नहीं कहा जा सकता कि इमसे रीतिकाल के कवि कितने परिचित थे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकाल में, जाने या अनजाने, यही परम्परा विकसित हुई है।

रीतिकाव्य की परम्परा में सबसे पहले कृपाराम मिलते हैं जिन्होंने १६वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिततरंगिणी की रचना की। उनसे यह एकदम सिद्ध हो जाता है कि "बिहारी-सतसई" की परम्परा बिहारी से बहुत पहले चल पड़ी थी, वही भाषा, वही भाव, वही शैली—केवल अविकसित :

हिंदी रीतिकाव्य के लक्षण लिखनेवाले वर्ग में चिन्तामणि का अनुकरण भी ख़ूब हुआ। केशवदास प्रिय रहे, परन्तु उनकी अलंकार-प्रधान शैली की परिपाटी नहीं बनी। "छन्द-विचार" "कविकुलकल्पतरु" और "काव्यविवेक" चिन्तामणि के प्रमुख ग्रन्थ हैं। १८वीं शताब्दी के अन्य प्रमुख कवि हैं—विहारी, सेनापति, मतिराम, कुलपति मिश्र, महाराज जसवंतसिंह, वेनी और सुखदेव मिश्र।

अतः हम देखते हैं कि विहारीलाल के समय तक रीतिकाव्य की धारा का रंग-रूप वहुत कुछ निश्चित हो चुका था। उन्होंने इस धारा में विशेष योग दिया। वे एकदम उन मूल ग्रन्थों तक पहुँचे जिनमें वे प्रवृत्तियाँ पुष्ट हुई हैं जो समसामयिक काव्य में क्रमशः अधिक वल प्राप्त कर रही थीं। उन्होंने उन ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया। परन्तु उनके सहारे काव्य-रचना आरंभ करने से पहले उन्होंने एक अन्य श्रमसाध्य काम किया। व्रजभाषा में प्रचुर रचना हो चुकी थी, परन्तु न उसका रूप शुद्ध था, न निश्चित। उसके शब्दों की अच्छी जाँच पड़ताल भी नहीं हुई थी। विहारी ने एक निश्चित व्याकरण, निश्चित शैली और निश्चित भाव-प्रकाशन-प्रणाली का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि यह काम अचानक ही नहीं हो गया। उन्होंने श्लेष और यमक के इतने असाधारण प्रयोग किये हैं कि इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उन्होंने पूर्ववर्त्ती एवं समसामयिक हिन्दी कवियों की भाषा का गंभीर अध्ययन किया होगा। विहारी-सतसई की उत्कृष्टता कई विशेषताओं के कारण है—

१—उसमें अत्यंत सुष्ठ समास-पद्धति का उत्कर्ष मिलता है। ४८ मात्राओं के छोटे छंद में सुन्दरतम भावों, विचारों और कल्पनाओं को इकट्ठा कर देना विहारी का ही काम था। इस

में रामकथा लिखी है परन्तु उसमें भक्तिभावना नहीं है, पांडित्य प्रकाशन ने उनकी अनेक कवितायों को ऊहापोहात्मक कर दिया है। उसमें वासना का भी गहरा पुट है। उनकी दूसरी रचना "वीसलदेव चरित्र" है परन्तु इससे वे वीरकाव्य के कवि नहीं हो जाते। हमें उनकी रचनाओं में उनकी मूल प्रकृति की खोज करनी है। वास्तव में केशवदास ने अपने समय की सभी धाराओं को बल दिया है परन्तु वे प्रतिनिधित्व रीतिकाव्यधारा का ही कर सके हैं। रीतिकाव्य जिन्हें कहा जाय ऐसी पुस्तकें उन्होंने दो ही लिखी हैं—रसिकप्रिया (शृङ्गार रस-सम्बन्धी ग्रन्थ) और कवि-प्रिया (कवियों के जानने योग्य सभी बातों के संबंध में। यही पुस्तकें उनके प्रकृत रूप को हमारे सामने रख देती हैं।

दूसरी शताब्दी (११वीं) में हम ऐसे अनेक रीतिकवियों से परिचित होते हैं जो मुग़ल दरबार से सम्बन्धित हैं या किसी देशी राज्य से। उनकी कविताओं में राजाओं की मनोवृत्ति भी प्रतिबिंबित है। काव्य व्यवसाय हो रहा था। जनरुचि बिगड़ चुकी थी। कवियों के आश्रयदाता का यह हाल था—"अली कली सों बिंध रह्यो···"। ऐसी परिस्थिति में राजकीय विलासिता, युग की शिथिलता, बिगड़ी जनरुचि, संस्कृत आचार्यों का प्रभाव, फ़ारसी कविता के प्रभाव में होकर हिंदी काव्यधारा आगे बढ़ी।

राजदरबारों से संबंधित काव्य नीति और रीति का आश्रय लेकर चल रहा था। १६वीं शताब्दी के ऐसे कवियों में रहीम और गंग अधिक प्रसिद्ध हैं। "नायिका-भेद" ग्रन्थों की परम्परा में रहीम का "बरवै" सर्वप्रथम आता है।। वास्तव में १६वीं शताब्दी में जहां भक्ति और सन्त धाराएं शिथिल होती हुई प्रवाहित हो रही थीं, वहां रीतिकाव्यधारा को निरन्तर बल प्राप्त हो रहा था। शताब्दी के अंत में हम चिन्तामणि को प्रवेश करता पाते हैं। केशव चमत्कारवादी थे। चिन्तामणि रसवादी।

प्रेमी की तन्मयता[२], प्रेमी की विवशता,[३] हासविनोद,[४] प्रिय में आसक्ति[५] और प्रेमजन्य उत्साह,[६] सौतों की ईर्ष्या, वयःसंधि[७], सद्यस्नाता[८], कटाक्षों की कुटिलता[९], अपने सम्बन्ध में प्रिय की कही बातों के सुनने की उत्सुकता[१०] और ऐसी ही संयोग और विप्रलंभ की शतशः परिस्थितियों के सम्बन्ध में रसपूर्ण काव्य एक स्थान पर और कहाँ मिलेगा ?

---

२ जुरे दुहुनि के दृग झमकि, रुके न झीनैं चीर.
हलुकी फौज हरौल ज्यों, परै गोल पर भीर

३ लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं
ये मुँहजोर तुरंग ज्यों एँचत हूँ चलि जाहिं

४ बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ
सौंह करै, भौंहनु हँसै, दैन कहै, नटि जाइ

५ कर मुंदरी की आरसी प्रतिबिंब्यो प्यौ पाइ
पीठि दियै निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ
मंजन करि खंजन-नयनि, बैठी ब्यौरति बार
कच अँगुरिन बिच दीठि दै चितवति नन्दकुमार

६ भौंह उँचै आँचरु उलटि, मौरि मोरि मुँह मोरि
नीठि-नीठि भीतर गई, दीठि-दीठि सौं जोरि

७ बिथुर्‌यौ जावकु सौति पग, निरखि हँसी गहि गाँसु
सलज हँसौंही लखि, लियौ, आधी हँसी उसाँसु

८ विलसति सकुचति सी दिएँ कुच आँचर बिच बाँह
भीजैं पट तट कौं चली न्हाइ सरोवर माँह

९ दृगनु लगत, बेधत हिमहिं, बिकल करत अँग आन
ए तेरे सब तैं बिषम ईछन तीछन बान

१० फिरि फिरि बुझति कहु कहा कह्यौ साँवरे गात ?
कहा करत, देखे कहा, अली चली क्यों बात ?

काव्य को सच ही "अक्षर-कामधेनु" कहा जाता है। संक्षेप-शैली में ऐसी रससिक्त कविता कहीं नहीं मिलेगी।

२—वह अत्यंत ऊँची कोटि का ध्वनिकाव्य है।

३—रस, नायिकाभेद, अलंकार की दृष्टि से सतसई के दोहे कवि की भावुकता और उसके पांडित्य के अन्यतम साक्षी हैं।

४—उसमें हावभावों का अत्यंत सजीव वर्णन है।

५—प्रकृति के जो चित्र दिये गये हैं वे "miniature painting" की श्रेणी में आते हैं। कितने ही दोहों में प्रकृति को स्वतंत्र रूप से आलंबन बनाया गया। सेनापति को छोड़कर अन्य किसी रीतिकवि ने प्रकृति का स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं किया।

६—नीति के दोहों में सांसारिक विषयों पर बड़ी ही मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं और भक्ति के दोहों में कवि भावुक भक्त के रूप में हमारे सामने आता है। "सूक्ति" और "सुभाषित" की दृष्टि से "सतसई" अनमोल संग्रह ग्रन्थ है।

७—बिहारी की कविता में काव्य-रीति के सभी अंग प्रचुर मात्रा में अत्यंत उत्कृष्टता के साथ मौजूद हैं, वह भी अलग-अलग नहीं, एक ही साथ, कहीं-कहीं एक ही दोहे में। अलंकारों की सुष्ठु योजना, रस की मधुर व्यंजना आदि शब्दों का लालित्य इतनी मात्रा में एक साथ कहीं भी नहीं मिलेगा।

८—सतसई में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए सामग्री उपस्थित है। शृंगार के क्षेत्र को तो बिहारी ने इतना छान डाला है कि बाद के लेखकों की वही दशा हुई जो बिहारी की नायिका के चितेरों की—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर

मतिराम ने स्पष्टतः इसका अनुकरण किया है—

खेलत चोरमिहीचिनी परे प्रेम पहिचानि
जानी प्रगटत परस हैं तिय-लोचन पिय जानि

विहारी के दोहे में जो गति-चित्र है, वह मतिराम के दोहे में नहीं है; पहचान जाने में सब कुछ समाप्त हो जाता है। "चोर मिहीचिनो" शब्द के रख देने से दोहे के प्रसंग को एक-एक विशेषता में बाँध दिया गया। विहारी के दोहे में प्रेमी औचक आया है, नायिका के स्पर्श से पहचान लेने में इसी कारण स्वाभाविकता है और फिर उलट कर प्रियतम को गाढ़ालिंगन में भर लेना इस औचक प्रसंग को पूर्णता तक पहुँचा देता है। भाषा में उतनी समर्थता नहीं है जितनी विहारी में है।

विहारी के किसी-किसी दोहे के भाव को तो सभी सतसई-कारों ने ग्रहण किया है, जैसे विहारी का दोहा है—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर

इसी बात को रसनिधि यों कहते हैं—

चतुर चितेरे तुव सबी लिखत न हिय ठहराय
कलम छुवत कर आँगुरी कटी कटाछन जाय

इसमें कवित्व चला गया, चमत्कार रह गया और अस्वाभाविकता गले पड़ी। रामसहाय ने इसी भाव को रसनिधि की अपेक्षा अच्छे ढंग पर व्यक्त किया है—

सगरब गरब खीँचैं सदा चतुर चितेरे आय
पर वाकी बाँकी अदा नेकु न खीँची जाय

भाव विहारी का है, विहारी जहाँ चितेरे की असफलता के कारण के विषय में मौन हैं, वहाँ रामसहाय मुखर हैं। कारण है "बाँकी

परवर्ती साहित्य पर बिहारी-सतसई का अत्यन्त गहरा प्रभाव है। एक तरह कहा जाय तो उत्तर रीतिकाव्य में ऐसा कुछ अधिक नहीं है जो बिहारी नहीं कह गये। जहाँ तक परवर्ती सतसई-साहित्य का सम्बन्ध है वहाँ तक तो यह निःसन्देह अक्षरशः ठीक है। सतसई काव्य को पहले लीजिए। "सतसई" की परंपरा बिहारी से ही चली। मतिराम, रामसहाय, चंदन और विक्रम की शृंगार सतसइयाँ प्रसिद्ध हैं। अन्य कवियों ने "सतसई" (७०० की संख्या) में दोहे इकट्ठे नहीं किये परन्तु उन दोनों में वे बिहारी एवं "सतसई-परंपरा" से प्रभावित हैं, इसमें कोई संदेह नहीं रह गया। 'रसनिधि' के 'रतनहज़ारा' (दोहा-संग्रह) से २०० दोहे लेकर बाबू श्यामसुन्दरदास ने "सतसई सप्तक" (प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी) में उन्हें भी "सतसई" का रूप दे दिया। इस संग्रह-ग्रन्थ में सात सतसइयों का संग्रह है जिनमें बिहारी के अतिरिक्त ४ अन्य शृंगार सतसइयाँ हैं। इस प्रकार परवर्ती चार सतसईकारों पर बिहारी के प्रभाव के अध्ययन के लिए अच्छी सामग्री उपस्थित है।

तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सब पर बिहारी-सतसई का प्रभाव है। कुछ आलोचकों का कहना है कि मतिराम सतसई पर बिहारी का प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता। परन्तु मतिराम के कितने ही दोहे ऐसे हैं जो भाव और भाषा में बिहारी के दोहों के अनुकरण जान पड़ते हैं। कम से कम उन दोहों को लिखते समय मतिराम के सामने बिहारी के दोहे अवश्य रहे थे।

बिहारी का दोहा है—

दृग मिहचत मृगलोचनी भर्‌यो उलटि भुज बाथ
जान गई तिय नाथ के हाथ परस हीं हाथ

उड़ी गुड़ी लौं मन फिरैं डोर लाल के हाथ
नैन तमासे को रहे लगे निरंतर साथ
(रसनिधि)

(४) दृग अरुझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति
परति गांठ दुरजन हियें दई नई यह रीति
(विहारी)

उरझत दृग बँधि जात मन कहौ कौन यह रीति
प्रेमनगर में आइ कै देखी बड़ी अनीति
अद्भुत गति यह प्रेम की लखौ सनेही आय
जुटै कहूँ टूटै कहूँ कहूँ गाँठ परि जाय
(रसनिधि)

इन सब उद्धरणों से यह जान पड़ेगा कि विहारी-सतसई परवर्ती सतसईकारों के लिए उसी प्रकार आदर्श बनी जिस प्रकार गाथा और आर्यासप्तशतियाँ विहारी के लिए आदर्श थीं। परन्तु जहाँ बिहारी ने स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में, गाथा और आर्या के "मजमून छीन लिए" वहाँ विहारी की सतसई को आदर्शग्रंथ मानकर चलनेवाले परवर्ती कवियों ने उनके भावों का अपहरण कर उनकी छीछालेदर ही कर दी। विहारी का सौन्दर्य समास-पद्धति, भाषा-सामर्थ्य और शब्दों के अत्यंत उपयुक्त चुनाव पर आश्रित है। जहाँ अमरुक ने एक भाव के लिए एक बड़ा श्लोक लिखा, वहाँ विहारी ने उसे आद्यंत काट-छाँटकर और अभिधा के स्थान पर व्यंजना का स्थापन कर उसे अमरुक के श्लोक से बढ़-चढ़कर बना दिया। अमरुक ने शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में लिखा है—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कंचुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मी मित्य भिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिका संस्पृशि

अदा"। रसनिधि दूसरा कारण देते हैं—कटाक्षों के चित्र उतारने में असफलता। विहारी मौन हैं। हमने पिछले पृष्ठों में बिहारी के सौन्दर्यदर्शन की विशेषता पर थोड़ा-वहुत कहा है। विहारी की नायिका अपूर्व सुन्दरी है। क्षण-क्षण में उसका सौन्दर्य बदलता है, अधिक-अधिक अच्छा होता है। तब चित्रकार उसका क्या रूप खींचे?

नीचे हम अपनी ओर से कुछ जोड़े-तोड़े विना विहारी और अन्य सतसईकारों की रचनाओं के भावसाम्य के उदाहरण रखते हैं—

(१) पूस मास सुनि सखिनु पै साईं चलत सवार
गहि कर बीन प्रबीन तिय राग्यौ राग मलार
(विहारी)

प्राननाथ परदेस कौं चलियै समौ विचारि
स्याम नैन घन बाल के बरसन लागे वारि
(मतिराम)

माँगी विदा बिदेस की दै जराइ अनमोल
बोली वोल न सुघर तिय दियो अलाप हिंडोल

(२) पहुँचति डटि रन-सुभट लौं रोकि सकैं सब नाहिं
लाखनहूँ की भीर मैं आँखि उहीं चलि जाहिं
(विहारी)

धरी अभय भट भेदि कै भूरि भरी हू भीर
झमकि जुरहि दृग दुहुँनि के नेकु मुरहिं नहिं बीर
(रामसहाय)

(३) कहा भयौ जो बीछुरे मो मन तो मन साथ
उड़ी जाउ कितहूँ तऊ गुड़ी उड़ाइक हाथ
(विहारी)

सस्मित सखी नेत्रोत्सवानन्दितो	विहारी ने इस सामग्री को "सखी लखी मुसकाय" और "मुख पाय" में प्रकट कर दिया है। इससे चित्र अधिक स्पष्ट होगया।
निर्यातः शनकैरलीक-वचनोपन्यास समालीजनः	"कै कै सबै टलाटली अलीं चलीं" "अलीक वचनोपन्यास" के स्थान पर "टलाटली" रखकर विहारी ने शब्दों के सम्बन्ध में अपनी अंतर्दृष्टि को हमारे सामने प्रकाशित कर दिया है।

स्पष्ट है कि शार्दूलविक्रीड़ित के प्रथम तीन चरणों का भाव किस प्रकार एक पंक्ति में रख दिया गया है। यही भावप्रकाशन-सामर्थ्य विहारी की कविता का प्राण है।

यही नहीं, संक्षेप के अतिरिक्त विहारी उन भावों का संस्कार भी कर देते हैं जो उन्हें गृहीत हुए हैं। ऊपर के दोहे में उन्होंने अमरुक का भाव अधिक संयत और सभ्य रूप में हमारे सामने रखा है। आर्या और गाथा सप्तशतियों के कुछ छन्दों से तुलना करने पर यह बात भी स्पष्ट हो जायगी—

आर्या	विहारी
भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र-तत्रैव आवर्तपतित नौकायितनमया विनय-मपनीय	"फिर फिर चित उतहीं रहत छुटी लाज की लाव अंग अंग छवि भौंर में, भयो भौंर की नाव" आर्या में नायिका नाव है, दोहे में चित्त नाव है। इस पहले ही परिवर्तन ने विहारी के भाव को अत्यन्त उच्च और अधिक स्वाभाविक बना दिया है। "छुटी

शय्योपांत निविष्ट सस्मित सखी नेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः।

इसे बिहारी दोहे में यों कहते हैं—

पति रति की बतियाँ कहीं सखी लखी मुसकाय
कै कै सबै टलाटली अलीं चलीं सुख पाय

जहाँ अमरुक ने पूरा प्रसंग खोल दिया, वहाँ बिहारी ने प्रसंग-विधान को गोप्य रखा है। दोनों रचनाओं की तुलना इस प्रकार की जा सकती है—

अमरुक

"त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिक्या धत्से मनोहारिणीं। लक्ष्मी_ । मित्यभिधायिनि" प्रियतमे तद्वीटिका संस्पृशि।

शय्योपान्तनिविष्ट

बिहारी

अमरुक के दोहों में नायिका के प्रति नायक के वचन भी हैं और हाथापाई है। बिहारी ने अधिक सयंम से काम लेकर हाथापाई का प्रसंग चलाया ही नहीं। अमरुक के नायक ने जो कुछ कहा है —और बहुत कुछ कह दिया—वह बिहारी के मौन—"पति रति की बतियाँ कहीं" के सामने फीका पड़ जाता है। बिहारी ने कल्पना को स्वतन्त्र छोड़ दिया, पाठक अपने-अपने अनुभवों से समझें, नायक ने क्या कहा ?

इस टुकड़े का भाव बिहारी ने ग्रहण नहीं किया, यद्यपि उनके दोहे में भी एकांत की व्यंजना है। वास्तव में, अमरुक के इस टुकड़े की कोई आवश्यकता ही नहीं।

पिअ के स्थान पर हरि रख देने से वह विशेपता आ गई जो रीति-काव्य में कृष्ण के नायकत्व के कारण वहुत जगह सुलभ है। "जीवन मूरि" विहारी ने अपनी ओर से जोड़ दिया है परन्तु वह अत्यंत सार्थक है। कदाचित् "वाम वाहु" का संकेत विहारी को आर्या से मिला—

प्रणमति पश्यति चुम्वति संश्लिष्यति पुलक मुकुलितैरंगैः। प्रिय सङ्गमाय स्फुरितां वियोगिनी वाम वाहु लताम्।

परन्तु विहारी ने इस संकेत के सिवा भाव-प्रकाशन के लिए गाथा की ही नायिका वोधव्य शैली ग्रहण की। आर्या की नायिका पहले से ही वाहु को "प्रणमति, पश्यति, चुम्वति" है। चमत्कार और स्वाभाविकता नायिका के भविष्य-संकल्प में है।

इसके अतिरिक्त शव्द-सौन्दर्य, अनुप्रास और माधुर्य की जो छटा विहारी के दोहे में है, वह भाव को विकसित करने में कहीं अधिक सहायक है। इन वातों का अमरुक, गाथा और आर्या—सव कहीं अभाव है।

इसी भापा-सामर्थ्य के अभाव के कारण परवर्ती सतसईकार विहारी के भावों को चमका नहीं सके। चमकाने के लिए कुछ भी शेप नहीं रहा था। उन्होंने विहारी के भावों को भापा-शैथिल्य के द्वारा उचित स्थान से स्खलित कर दिया। हमने इस वात को अन्य स्थान पर सिद्ध किया है।

लाज की लाव" कहकर रूपक को आगे भी बढ़ा दिया गया। आर्या का "विनयमपनीय" कोई चित्र उपस्थित नहीं करता।

आर्या ने लिखा—आवर्तपतित नौकायित नमया। बिहारी लिखते हैं—भौंर की नाव। इतने में ही आर्या का भाव आ गया है, परंतु आर्या में कारण स्पष्ट नहीं है, चित्र ठीक नहीं उतरता। बिहारी ने 'स्नेहे' के स्थान पर "अंग-अंग छवि भौंर" लिखकर चित्र की स्पष्टता दे दी है और रूपक को पूर्णता मिल गई है।

गाथा	बिहारी
फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओज्ज ता सुइरम्। संमीलिअ दाहिणअँ तुइ अवि एहं पलोइ-स्तम् ॥ २।३७ ॥	बाह बाहु फरकत मिले जो हरि जीवन मूरि तौ तोहीसों भेटिहौं; राखि दाहिनी दूरि भावार्थ लगभग एक ही है परन्तु गाथा की नायिका फड़कनेवाली शुभ बाईं आँख को इनाम देते हुए (कि मैं प्रिय को तुमसे ही देखूँगी, दूसरी देर तक बंद रखूँगी) यह बात नहीं सोची कि "कानी" बनकर नायक से मिलना भी अमांगलिक एवं अशुभ होता। बिहारी ने नायिका को क्षण भर के लिए भी कुरूप नहीं बनाया और दोहे का इस प्रकार संस्करण कर लिया—आँख की जगह बाहु रखा। शेष वही।

पढ़ि न सिराति पाती भूलि-भूलि जाती नेकु
सखियाँ न पावैं निज अँखियाँ दिये रहै
रूसती रिसाती हँसि हँसि बतराती चूमि
चाहि मुसकाती प्रेम आसव पियै रहै (तोष)

भौंहनि त्रासनि मुख नटति आँखिन सों लपटाति
ऐंचि छुरावति करहँचीं आगे आवति जाति (बिहारी)

कर एँचत आवत ऍची तिय आपहि पिय ओर
झूठिहूँ रूखि रहै छिनक छुवत छरा को छोर (पद्माकर)

गोरी गदकारी परैं हँसत कपोलनु गाड़
कैसी लसति गँवारि यह सुनकरवा की आड़ (बिहारी)

धारे सहज सिंगार गात गोरे गदकारे
बिहँसत गोल कपोल लोल लोचन कजरारे
सुनकरवा की आड़ ताड़ लटकी तरपीली
ठाढ़े गाढ़े कुचनि चिहुँचनी-माल सजीली (रत्नाकर)

इस प्रकरण को हम यहीं समाप्त करते हैं। हिन्दी रीति-काव्य में बिहारी का अपने काव्य और उसके प्रभाव के कारण एक अत्यन्त विशिष्ट स्थान है—वही स्थान जो भक्ति-काव्य में तुलसीदास या सूरदास का है। वे निःसंदेह रीति-काव्य के सर्वोत्तम कवि हैं। उत्कृष्ट काव्य की दृष्टि से अत्यन्त धनी संस्कृत साहित्य के सम्मुख यदि हमें हिन्दी के कवि रखना पड़ जाये तो हम तुलसीदास, सूरदास और बिहारी को ही रख सकते हैं। बिहारी-सतसई अकेली आर्या, गाथा, अमरुक और अनेक शृङ्गार सुभाषितो पर भारी है।

———

सतसईकारों की मंडली के वाहर भी विहारी की पहुँच हुई और यदि उन कवित्तों, सवैयों को एक जगह इकट्ठा किया जाय, जो विहारी के आधार पर वने हैं या जिनमें विहारी के दोहे को खोलकर कुछ विशेषता लाने की असफल चेष्टा हुई है, तो हज़ारों पृष्ठों का एक पोथा सहज ही बन जायगा। सच तो यह है कि विहारी के दोहे स्वयम् एक बड़ी "रूढ़ि" बन गये हैं। उनसे कोई भी परवर्ती शृङ्गारिक कवि बच नहीं सका। विहारी के दोहों की नींव पर महल खड़ा करने की वात बरावर सोची जाती रही, परन्तु हाथ बरावर लगी असफलता। जो हो, विहारी रीतिकाल के केन्द्र में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती हिन्दी-संस्कृत-प्राकृत कवियों के भावों को ग्रहण किया है, उनके परवर्ती कवियों ने उन सवको छोड़ विहारी की ही शरण जाना उचित समझा। इसी कारण, वे नई उद्भावनाएँ भी अधिक नहीं कर सके। जिस विशाल साहित्य से विहारी का परिचय था, वह उनके लिए बंद रहा। नीचे की तुलनाओं से विहारी के व्यापक प्रभाव पर प्रकाश पड़ेगा—

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढिगौ इतौ उदोत
बंक बकारी देत ज्यौं, दाम रुपैया होत (विहारी)

आँकु बढ़ै दिये दूजी विकारी के होत रूपैमन ते मुहरे ज्यों
(सुंदरदास)

कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि
लहि पाती पिय की लखति, बांचति धरति समेटि (विहारी)

ताही समै औचक ही काहू आनि चीठी दीनी
देखत ही "सेनापति" पाई प्रीति रति की
माथे लै चढ़ाई दोऊ दृगनि लगाई चूमि
छाती लपटाय राखी पाती प्रानपति की (सेनापति)

से शिक्षा-दीक्षा ली। उन्होंने रस-अलंकार और शब्दों के उदाहरण-स्वरूप कविता करने की परिपाटी का पालन किया।

केवल कुछ ग्रन्थों को छोड़कर जो नखशिख, षट्ऋतु, अलक-शतक, तिलक-शतक जैसे वँधे हुए विषयों को लेकर चलते हैं, शेष सारा काव्य रसों, अलंकारों और छन्दों के उदाहरण-स्वरूप ही उपस्थित हुआ है, यद्यपि उसमें कवि का लक्ष्य स्वतंत्र रचना ही है, लक्षणों की ओर उसका ध्यान भर ही रहता है। इसमें भी अधिकांश काव्य-सम्पदा का सम्बन्ध नायिका-भेद से है। जैसे पिछले युग में राम-कृष्ण के नाम, गुण, रूप, लीलाओं आदि का इतना महत्त्व रहा कि जीवन के और अनेक अंग अछूते ही पड़े रहे, उसी प्रकार इस युग में लौकिक प्रेमलीला ही में जीवन की समाप्ति समझ ली गई। यह प्रवृत्ति यहाँ तक दृढ़ हुई कि भक्तिकाव्य के राधाकृष्ण लौकिक नायक-नायिकाओं के रूप में ही चित्रित किये गये।

हिन्दी में रस-निरूपण करनेवाले पहले कवि कृपाराम थे जिन्होंने १५४१ में इस प्रकार का काम किया। इसी समय के लगभग मोहनलाल मिश्र ने भी रस-विषयक अपना ग्रन्थ शृङ्गार-सागर लिखा। इनके अनन्तर अकबरी दरबार से सम्बन्धित करुनेश कवि ने अलंकार-सम्बन्धी तीन ग्रन्थ करनाभरण, श्रुति-भूषण और भूपभूषण लिखे। इस प्रकार रस और अलंकार ग्रन्थों का प्रणयन १५४१ से ही आरम्भ हो गया था, परन्तु ये प्रयत्न संस्कृत साहित्य-शास्त्र से बहुत अधिक प्रभावित नहीं थे, न उस समय इस प्रकार की कोई परिपाटी उठ खड़ी हुई थी, जैसा बाद में हुआ। ऊपर के किसी भी कवि ने काव्यांगों का पूरा परिचय भी नहीं कराया था।

संस्कृत साहित्य के सभी काव्यांगों का परिचय करानेवाले

परिशिष्ट १

रीतिकाव्य

हिन्दी कविता के रीतिकाल के विषय में लोगों में बड़ा मतभेद है। ३०० वर्ष तक हिन्दी काव्य-साहित्य में एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति चलती रही, परन्तु कुछ सामान्य बातों पर ध्यान देने के अलावा इस प्रवृत्ति के मूल तत्त्वों, उसके विकास एवं उसके परिवर्तनों के विषय में अधिक अनुसन्धान नहीं किया गया है।

इस काव्य-धारा को समझने के लिए हमें कई बातों को भूमिका रूप में समझा देना होगा—(१) इस काव्य के कवियों का ध्यान भक्ति, नीति अथवा आचार की ओर नहीं था। इन्होंने लौकिक प्रेम के अनेक रूपों को हमारे सामने रखा। संक्षेप में मूल भावना शृङ्गार की थी। (२) उस काव्य का रूप जो इन कवियों ने उपस्थित किया, मुक्तक का था प्रबन्धात्मक काव्य का नहीं। मुख्य छन्द, कवित्त, सवैया, दोहा और बरवै थे। (३) काव्य की आत्मा की ओर से हटकर कवि की दृष्टि कला की ओर गई और वह वहीं अटक गई। उस समय तक कृष्ण-भक्त कवियों के प्रयोग से ब्रजभाषा हिन्दी प्रदेश की काव्य-भाषा बन चुकी थी और विशेष रूप से मँजकर प्रौढ़ता को प्राप्त हो गई थी। भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति, शब्दकोष और लचक बढ़ जाने के कारण कला को अधिक प्रश्रय मिला। इसीलिए डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने रीतिकाल को 'कलाकाल' नाम दिया है। यह एक दिशा है। (४) कवियों ने संस्कृत आचार्यों

उद्देश्य कविता था। एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण लिखकर कवि आगे बढ़ जाता था। कभी-कभी उसका उदाहरण लक्षण से मेल भी नहीं खाता था। कुछ अलंकारों के भेद न समझने के कारण गड़बड़ी हो गई थी और प्रायः हिन्दी और संस्कृत आचार्य कवियों के भेद भिन्न हो गये। परन्तु इस विभिन्नता का कारण कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था, अतः हिन्दी-साहित्य में अलंकारों आदि का अध्ययन विकास की दृष्टि से नहीं किया जा सकता।

संस्कृत साहित्य में आचार्य और कवि भिन्न व्यक्ति थे। आचार्य साहित्य-शास्त्र पर व्यवस्था देते थे। उनके विवेचन के आधार कवि थे। उनके उदाहरण कवियों की कृतियों से ही लिये होते हैं, परन्तु हिन्दी में कवि आचार्य का काम करने लगा जिसके लिए वह अधिक उपयुक्त नहीं था। यह एक विचित्र बात थी। इसने साहित्य-शास्त्र की भली-भाँति मीमांसा नहीं होने दी। उस समय तक हिन्दी-काव्य में यथेष्ट रचना हो चुकी थी। परन्तु शायद साहित्य की दृष्टि से वह इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी। इसलिए हिन्दी के इन कथित आचार्यों ने हिन्दी कवियों की रचनाओं का आधार मूल नहीं माना। ये संस्कृत के अनुवाद की ओर झुके। इनकी अधिकांश रचनाएँ अनुवादमात्र हैं। तात्पर्य यह है कि विस्तृत विवेचन के दर्शन कहीं नहीं मिलते। वास्तव में साहित्य-शास्त्र के अनेक विषयों को अछूता छोड़ दिया गया है। दृश्यकाव्य की विवेचना बिलकुल नहीं हुई। शब्द-शक्ति पर केवल कुछ ही लक्षणकारों का ध्यान गया। जहाँ विवेचन किया भी गया वहाँ भी वह अस्पष्ट और भ्रांति मूलक है। अधिकांश लक्षण-ग्रन्थ रस और अलंकार से ही सम्बन्धित रहे। केशवदास को छोड़कर जो स्पष्टतः अलंकारवादी थे, अन्य लेखकों ने रस को ही काव्य की आत्मा माना।

पहले कवि आचार्य केशवदास थे जिन्होंने कविप्रिया और रसिक-प्रिया द्वारा हिन्दी में संस्कृत रीति-शास्त्र को ला प्रतिष्ठित किया। केशवदास ने भामह, उद्भट और दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया जो रस-रीति आदि को भी अलंकार मान लेते थे। उनकी प्रकृति स्वयम् चमत्कार-प्रियता की ओर थी और इसी से उन्होंने संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम की ओर दृष्टिपात नहीं किया। उन्होंने संस्कृत साहित्य-शास्त्र की ऐसी पुस्तकों को अपनाया जो साहित्य-शास्त्र के विकास की दृष्टि से बहुत पीछे पड़ गई थीं।

रीति-ग्रन्थ रचने की परिपाटी आठवीं शताब्दी बाद चली। उसने परवर्ती संस्कृत आचार्यों का आश्रय लिया। अलंकार-ग्रन्थों का प्रणयन चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसरण में हुआ और काव्य के रूप के सम्बन्ध में रस को प्रधान माननेवाले ग्रन्थों काव्यप्रकाश और साहित्य-दर्पण को आधार बनाया गया। रीति-ग्रन्थ लिखने की अखण्ड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से आरम्भ होती है जिन्होंने १६४३ के लगभग काव्य-विवेक, कविकुल-कल्पतरु और काव्य-प्रकाश की रचना की एवं एक पुस्तक छन्द-शास्त्र पर भी लिखी। इस परम्परा के कवि दोहे में लक्षण लिखते थे और कवित्त या सवैये में उसका उदाहरण देते थे। इस प्रकार एक दोहे में लक्षण स्पष्ट नहीं हो सकता था, न उसमें विवेचन के लिए ही स्थान था। इस काम के लिए गद्य अधिक उपयुक्त होता परन्तु गद्य विशेष प्रयोग में नहीं आ रहा था।

दूसरी बात यह है कि आचार्यत्व का ढोंग भरने पर भी इन कवियों में न इतनी अधिक विद्वत्ता थी जितनी संस्कृत कवियों में न सूक्ष्म पर्यालोचन शक्ति। उन्होंने संस्कृत रीति-शास्त्र को किसी प्रकार आगे नहीं बढ़ाया। लक्षण-ग्रन्थ लिखना बहानामात्र था

प्रकृति का प्रयोग केवल उद्दीपन के रूप में किया गया। संस्कृत साहित्य की षट्ऋतु-वर्णन-पद्धति ग्रहण की गई। परन्तु उसका आधार शास्त्रीय ज्ञान रहा, स्वतंत्र प्रकृति-पर्यवेक्षण नहीं। इसके अतिरिक्त एक नई पद्धति बारहमासा (बारहों महीनों में विरहिणी की दिनचर्या) लिखने की चल पड़ी। कदाचित् इसका कारण हिन्दी लोकगीतों का प्रभाव हो। इसका मूल भी विप्रलंभ में था।

रीति-काव्य के कवियों में एक दूसरा वर्ग ऐसे कवियों का था जो एकदम लक्षण-ग्रन्थों की रचना करने नहीं बैठा, परन्तु साहित्य-शास्त्र उसे भी अलक्षित रूप से प्रभावित कर रहा था। ऐसे कवियों की रचना तुलना की दृष्टि से पहले कवियों की रचनाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस वर्ग के हम दो भाग कर सकते हैं। पहले वर्ग के कवियों (बिहारी, मतिराम आदि) पर साहित्य-शास्त्र, कला और संस्कृत-साहित्य का प्रभाव था। दूसरे वर्ग के कवियों में (जो उत्तरार्द्ध में आते हैं, जैसे, बोधा और घनानन्द) अनुभूति की प्रधानता थी और मौलिकता की मात्रा अधिक थी।

रीतिकाल की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर संस्कृत रीतिशास्त्र का प्रभाव तो था ही, परन्तु इससे भी अधिक संस्कृत काव्य-परम्परा का। हमें उन्हीं कवि प्रसिद्धियों और कवि-समयों के दर्शन होते हैं जो संस्कृत के परवर्ती काव्य में ग्रहण हुई थीं। नायिका के अंगों के उपमानों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। जहाँ कहीं फ़ारसी आदि का प्रभाव लांछित है वहाँ भी वह परवर्ती कवियों (गोवर्धनाचार्य आदि) के ढंग पर ग्रहण किया गया है। इस प्रकार इस काव्य की आत्मा संस्कृत के परवर्ती काल से बल पाती है। वह मूलतः भारतीय है; यद्यपि वासना-ऐश्वर्य-मूलक। उसमें एक

परन्तु वह भी किसी विशेष सिद्धान्त के अनुसार नहीं। उन्हें हम रसवादी नहीं कह सकते। सच तो यह है कि हिन्दी में अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद आदि सम्प्रदाय नहीं चले। उनके लिए जिस विशेष अध्ययन और सूक्ष्म विवेचनात्मक प्रतिभा की आवश्यकता थी, वह इस युग में दुर्लभ थी।

अलंकारों का विशेष वर्णन तो रहा, परन्तु उनका वर्गीकरण करने की कोई चेष्टा नहीं हुई। जहाँ (जैसे दास के काव्य-निर्णय में) वर्गीकरण दिखलाई भी देते हैं, वहाँ भी वास्तव में किसी विषय या सिद्धान्त को आधार नहीं बनाया गया, केवल कुछ अलंकारों को विशेष प्रकरण मात्र में रख दिया गया है। वास्तव में जैसा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"इन रीति ग्रन्थों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुआ। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।"

शृङ्गार-रस-निरूपण ने हिन्दी में विशेष परिस्थिति उत्पन्न कर दी। शृङ्गार रस के आलम्बन नायक-नायिका हैं, इसलिए नायिका-भेद पर दृष्टि गई। अनेक ग्रंथ केवल नायिका-भेद पर लिखे गये। नई-नई नायिकाओं की सृष्टि हुई। फल यह हुआ कि नायिकाओं की संख्या में बहुत वृद्धि हो गई। नायिका के अंगों के वर्णन को स्वतंत्र विषय बना लिया गया और उन पर अलग-अलग रचनाएँ हुईं। इस प्रकार नख-शिख साहित्य का जन्म हुआ। यही नहीं, तिल और अलक पर भी बहुत कुछ कहा गया।

काव्य और चारण-काव्य (या वीर-काव्य) की परम्परा में योग दिया। फिर भी मूल प्रवृत्ति शृङ्गार की ही थी और इसीलिए हम इस काल को रीतिकाल या कलाकाल कहते हैं।

रीति-काव्य

हिन्दी के रीतिकाल का मूल जन-भावना या लोक-रुचि, ऐहिकता और संस्कृत एवं अपभ्रंश की परम्परा में है। इसका रूप मुक्तक काव्य का है और इसकी अन्तर्गत धारा शृंगार रस की है। रस, अलंकार, नायिका-भेद, नायक-नायिका के अंगों और उनके विलास का वर्णन ये इसके विषय हैं। इनमें से नायिका-भेद कामशास्त्र का अंग है। अन्य विषयों के चिन्तन में भी मौलिकता अधिक नहीं है।

रीति-काव्य का आरम्भ अपभ्रंश से होता है और इसका सम्बन्ध हिन्दी प्रदेश के पश्चिमी भाग से है। सन् ई० के आरम्भ के पास ऐसी रचनाएँ दीख पड़ती हैं जो रीतिशास्त्र पर आश्रित हैं। इस प्रकार की सब से प्राचीन रचना प्राकृत भाषा में लिखी हाल की सतसई है। इससे पहले हमें मुक्तक के दर्शन नहीं होते। इसका प्रभाव संस्कृत पर भी पड़ा और उसमें सतसई, शतक आदि लिखने की परम्परा खूब विकसित हुई। गोवर्धनाचार्य ने हाल की सतसई के आधार पर आर्यासप्तशती लिखी और अमरुक ने अमरुक-शतक की रचना की।

सतसई-साहित्य लोक-साहित्य नहीं है परन्तु वह अन्य साहित्यों की अपेक्षा लोक-जीवन के निकटतर अवश्य है। यह साहित्य ऐहिक जीवन की प्रतिदिन की छोटी-छोटी घटनाओं पर आश्रित होता है। लौकिक प्रेम-भावना, धर्म-भावना, नीति और आचार-विचार एवं जनसाधारण के त्योहार इसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रेमियों की शृंगारिक क्रीड़ाएँ निःसंकोच कह डाली जाती हैं। ये प्रेम-लीलाएँ नगर में नहीं ग्राम में प्रतिष्ठित होती हैं। यह इस

प्रकार से भक्ति-काव्य के प्रति प्रतिक्रिया भी है जो नैतिक, रोमांटिक और पारलौकिक था। इसके विपरीत रीति-काव्य नैतिक भावनाओं से हीन, क्लासिकल और ऐहिक (लौकिक) था। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकार की कविता में उस समय की जनता की मूल मनोवृत्ति पाई जाती है। जहाँ तक कला-प्रियता की बात है वहाँ तक तो यह ठीक है परन्तु "शृङ्गार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता, राजा महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।" जिस प्रकार राजा-महाराजा और मध्यवर्ग के पंडित कायस्थ समाज का जीवन निश्चित परिपाटी से बँध गया था, उसी तरह यह काव्य परिपाटी से बँधा हुआ था।

इस प्रकार से अधिकांश काव्य नागरिक था। उसके प्रकृति-वर्णन कल्पनामूलक और शास्त्र एवं साहित्य-प्रेरित थे। हाँ, बरवों और दोहों में कुछ-कुछ प्राकृत गाथाओं के लेखकों के साहित्य और उनके दृष्टिकोण को अपनाने के कारण गाँव की प्रकृति और ग्रामीण प्रेम एवं ग्रामीण नायक-नायिकाओं का चित्रण हुआ जो इस सारे साहित्य में वही स्थान रखता है जो मरुभूमि में निर्मल जलाशय। यहाँ एक बात और ध्यान देना है। इस काल का अधिकांश प्रेम-साहित्य राधा-कृष्ण का आलम्बन लेकर चलता है।

परन्तु जैसा प्रत्येक काल में होता आया है इस काल में पुरानी काव्य-प्रवृत्तियाँ चलती रहीं। इसका कारण था कि उनके उपादान अब भी क्षेत्र में उपस्थित थे। संतों, भक्तों और चारणों का अभाव नहीं हो गया था। इन्होंने क्रमशः सन्त-काव्य, भक्त-

कभी उन्हें यह पता चल जाता है कि उनका उदाहरण प्रसिद्ध लक्षण से भिन्न है तो उसकी शुद्धता सिद्ध करने के लिए वे एक नये भेद की स्थापना कर लेते हैं।

रीति के तीन अंग हैं—रस, अलंकार, ध्वनि। रस की शास्त्रीय व्यवस्था सब से प्राचीन है। यह भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में मिलती है। वास्तव में रस का प्रधान माध्यम नाटक ही होगा। अलंकारशास्त्र का सम्बन्ध केवल भाषा से है, अतः उसका माध्यम काव्य है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में प्रसङ्गवश केवल कुछ अलंकारों की चर्चा कर दी गई है परन्तु उनका विशेष विवेचन बाद में हुआ। ध्वनि-सम्प्रदाय (प्रवर्तक—आनन्द-वर्धनाचार्य) में रस और अलंकार को एक स्थान पर एकत्र किया गया। आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा कि रस ध्वनित भी हो सकता है, अतः जहाँ केवल अलंकार हैं वहाँ भी रस की ध्वनि उत्पन्न की जा सकती है। इस व्याख्या के अनुसार फुटकल पदों में अलंकार के साथ रस का सृजन भी संभव समझा गया। हिन्दी रीतिकाल में इसी ध्वनि-सम्प्रदाय का अनुसरण किया गया।

इसी रीति-विवेचन में एक चौथी धारा कामशास्त्र की मिल गई थी। ऐसा संस्कृत साहित्य में हो चुका था। संस्कृत के कवि प्रेम-प्रसङ्ग में कामशास्त्र के ज्ञान का पर्याप्त परिचय देते हैं। हिन्दी में प्रेम के व्यावहारिक में इससे सहायता ली गई थी। नाट्यशास्त्र में रसनिरूपण करते समय नायिका-भेद की चेष्टा की गई थी। हिन्दी रीति-कालीन कविता में इसे काव्य का विषय बना लिया गया और कल्पना के बल पर बड़ी दूर तक विकसित किया गया।

परन्तु रीति-अंगों के अतिरिक्त संस्कृत काव्य-साहित्य की कवि-प्रसिद्धियाँ और काव्य-रूढ़ियाँ और संस्कृत शृंगार-काव्य के अंग

साहित्य की विशिष्टता है और इसीलिए इसके नायक-नायिका कामकुशल और भावप्रवण तो अवश्य होते हैं परन्तु वे अहीर-अहीरिन होते हैं। बाद के साहित्य में इनके साथ-साथ राधा और कृष्ण भी स्थान पाते हैं। कवि उन्हें भी सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के रूप में देखता है।

यह हम कह चुके हैं कि भावधारा के रूप में शृंगार रस प्रधान है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से अलंकारों को ही विशेष महत्त्व मिला है, रस को नहीं। वास्तव में रस, अलंकार और ध्वनि को एक स्थान पर एकत्रित करने की चेष्टा की गई है जो सब जगह समान रूप से सफल नहीं हुई है।

संस्कृत अलंकारशास्त्र में आचार्य व्याख्याता होता था, कवि नहीं। वह अपने मत के समर्थन में प्रसिद्ध रचनाओं से लक्षण उपस्थित करता था। संस्कृत के आचार्य अपने अलंकारशास्त्र और रसग्रन्थों में उदाहरण-स्वरूप प्राकृत, अपभ्रंश (गाथा) और संस्कृत के श्लोक उद्धृत करते थे। उन्होंने स्वयं उदाहरण उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया। मुक्तकों से सब प्रकार के लक्षण उपस्थित करना सरल था, इसलिए सैकड़ों मुक्तक पद और श्लोक उद्धृत किए गए। यहाँ हिन्दी में एक दूसरी रीति चली। कवित्व और आचार्यत्व के मेल करने का प्रयत्न हुआ। ग्रन्थकर्त्ता लक्षण स्वयम् गढ़ता था। रीति-काव्य का एक बड़ा भाग अलंकारों को स्पष्ट करने के लिए ही लिखा गया है, परन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने से यह पता चलता है कि हिन्दी रीतिकाल के कवियों में लक्षणों की शुद्धता का ध्यान रखने और अलंकार-विषयक अन्वेषण की प्रवृत्ति इतनी नहीं थी, जितनी किसी प्राचीन आचार्य के रीतिग्रन्थ का सहारा लेकर लक्षण के बहाने से स्वतंत्र रचना करने की। इसी से कभी-कभी वे ऐसे उदाहरण गढ़ते हैं जो किसी भी प्रकार परिभाषा पर पूरे नहीं उतरते या जब

दे दिया गया है। कवियों की प्रवृत्ति अलंकार-निरूपण की अपेक्षा नायिका-भेद पर ही अधिक रही।

परन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि २००, २५० वर्ष के इन कवियों के काम को क्या रस, अलंकार, नायिकाभेद के रूप में ही समझा जाय? यह भूल होगी। सारे रीतिकाल में रसों और अलंकारों के वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय विवेचन की प्रवृत्ति कहीं भी नहीं दीखती। कवियों ने विवेचना के लिए दोहा-जैसे छोटे छन्द का प्रयोग किया है, अतः यह स्पष्ट है कि विवेचन उनका ध्येय था ही नहीं। जिस तरह पिछले कवि (भक्त-कवि) राधा-कृष्ण की लीला को कविता का बहाना समझते थे, उसी तरह इस युग के कवि लक्षणों को बहाना मात्र समझते थे। सच तो यह है कि उन्हें एक अच्छा सहारा हाथ लग गया था। इसी से वे अपने उदाहरणों में अधिक सतर्क भी नहीं जान पड़ते। इसी से कहीं-कहीं जब उन्हें यह पता लगता है कि उनका उदाहरण उस अलंकार में नहीं आता जिसके उदाहरण स्वरूप वह उपस्थित किया गया है तो वह एक नया अलंकार-भेद गढ़ लेते हैं।

इस युग के आश्रय-ग्रंथ कुवलयानन्द, चन्द्रालोक अथवा इसी युग के किसी हिंदी कवि के अलंकार होते थे। जिन कवियों ने लक्षणों के रूप में अपनी कविता उपस्थित नहीं की, वे भी रीति-ग्रन्थों से प्रभावित थे। पुरुष-रूप (नायक) का वर्णन बहुत कम किया और स्त्री-रूप के बहुत से प्राचीन उपमानों को भुला दिया गया। परन्तु यदि रीति काव्य ने संस्कृत की सारी रूढ़ियाँ और कवि-प्रसिद्धियाँ नहीं अपनाईं तो उसने स्वयं इस प्रकार की कुछ रूढ़ियाँ गढ़ लीं जिनसे कवि बराबर प्रभावित होते रहे। इन कवियों ने लोक-जीवन को अधिक निकट से देखा, विशेषकर जहाँ तक शृंगार का सम्बन्ध है। परंतु

भी हिन्दी के रीति-काव्य में प्रवेश कर गये । स्त्री के अंगों के उपमान, कवि-समय और पिंगल (छन्दों) के विषय में भी इस काव्य पर संस्कृत का विशेष आभार है। इनके अतिरिक्त राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसङ्ग (दानलीला, मान, मानमोचन, रास और वंशीवादन आदि) जो कृष्ण-काव्य के प्रमुख अंग थे और जिनका निरूपण रीतिशास्त्र के ढंग पर होता था या हो सकता था, हिन्दी रीति-काव्य में आ गये और उसके आवश्यक अंग बन गये।

यों तो हिन्दी के आविर्भाव काल में ही काव्य और अलंकार-शास्त्र पुष्ट हो चुका था। कवि लोग काव्य-विवेचन को दृष्टि में रखकर कविता करते थे। चन्द, सूर, तुलसी आदि में यह बात साफ दिखलाई देती है। चारणों और भक्त कवियों ने कवित्व-कौशल दिखाने की चेष्टा की है। उन्होंने रस, अलंकार और नायिका-भेद को कुछ-कुछ दृष्टि में अवश्य रखा है, परन्तु रीतिकाल में काव्य-कौशल (कला) का महत्त्व इतना अधिक हो गया था जितना और किसी काल में नहीं हुआ था। रस, अलंकार और नायिका-भेद ही सब कुछ हो गये, भाव की मौलिकता कुछ नहीं रही। इसी से फुटकर पदों की भरमार हो गई। सारा रीति-काव्य मुक्तक रूप में उपस्थित हुआ है। यह मुक्त काव्य दोहा, सवैया और कवित्त छन्द में ही अधिक है। सब से आश्चर्य की बात यह है कि इसका अधिकांश भाग रस, अलंकार एवं नायिका-भेद के रूप में उपस्थित किया गया है। वास्तव में नायिका-भेद रसशास्त्र के ही अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु रीतिकाल के कवियों ने इसे स्वयम् एक स्वतंत्र शास्त्र बना लिया। सच तो है कि रीतियुग की मौलिकता नायिका-भेद के विस्तार में ही है। नाट्य शास्त्र की एक सामान्य बात को लेकर इतना तूल

कृपाराम को ही स्थान मिला है। इन्होंने १५४१ ई० में रस-रीति पर "हितनरंगिणी" नामक ग्रन्थ दोहों में लिखा। यह हमारा पहला रीति या लक्षण-ग्रन्थ है। मनोहर कवि ने १५६१ ई० के लगभग शृंगार रस सम्बन्धी फुटकर दोहे कहे हैं। बलभद्र मिश्र (ज० का० १५४३) ने पहली बार नायिका के अंगों को स्वतंत्र रूप मे कविता का विषय बनाया। कृपाराम ने "हित-तरंगिणी" में रस-रीति का अवलम्बन कर नायिकाओं का वर्णन अवश्य किया था परन्तु वे इससे आगे नहीं बढ़े थे। बलभद्र मिश्र का 'नख-शिख' शृंगार का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जिसमें उन्होंने नायिका के अंगों का वर्णन उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह आदि अलंकारों के प्रचुर विधान द्वारा किया है। 'दूषण विचार' नाम के अपने दूसरे ग्रन्थ में उन्होंने काव्य के दोषों का निरूपण किया है। १०७० के लगभग जमाल ने ब्रज-मिश्रित राजस्थानी में शृंगार के दोहे लिखे। केशवदास (१५५५ ई० १६१७ ई०) ने रीतिशास्त्र के लगभग सभी अंगों पर लिखा उनका 'कविप्रिया' अलंकार-ग्रन्थ है और 'रसिकप्रिया' रस-ग्रन्थ है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचन्द्रिका में उन्होंने छन्दशास्त्र के समस्त छन्दों का प्रयोग किया। अब्दुल रहीम खानखाना (१५५३ ई०—१६२६ ई०) ने बरवै नायिकाभेद, मदनाष्टक, शृंगार सोरठ, रासपंचाध्यायी नगर-शोभा, फुटकल कवित्त और सवैयों की रचना की। कादिर बख्श (ज० का० १५७४ का० का० १६१३) ने शृङ्गार के कवित्त लिखे। सैयद मुबारिक अली बिलग्रामी उपनाम मुबारिक (ज० का० १५८३ क० का० १६१३ के पीछे) ने अलक शतक और तिलशतक की रचना की। शृङ्गार-काव्य के एक आलम्बन नायिका के अंग-प्रत्यंगों का जो-जो वर्णन चल पड़ा था, यह ग्रन्थ उसी के फल हैं। इन्होंने परवर्ती कवियों को प्रभावित किया। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके अनेक कवित्त-सवैये भी संग्रह-ग्रन्थों में

उन्होंने बहुधा उसे राधाकृष्ण की प्रेम-लीला के रूप में हमारे सामने रखा। वास्तव में अलौकिक शृंगार की लौकिक प्रतिष्ठा भक्तों ने ही कर दी थी। कृष्ण-गोपियाँ, राधा का प्रेम-विरह और अभिसार-कथाएँ लोक-जीवन के प्रेम-विरह और अभिसार से मिल गई थीं। रीतिकाल में भक्ति की तन्मयता कम रही, काव्य और कला का पक्ष अधिक दृढ़ होने के कारण उसका रूप ही बदल कर सामने आया। भक्तों की कृपा से लोग लौकिक जीवन में अलौकिक और अलौकिक जीवन में लौकिक देखने लगे थे। शृंगार के समुद्र में कहीं-कहीं उनके भक्त-हृदय का आलोक भी झलक जाता है तो हम आश्चर्य करते हैं, परंतु, यह आश्चर्य की बात नहीं। सच तो यह है कि इन कवियों ने काव्यपक्ष में शास्त्रीय परम्परा (रस-अलंकार) का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था, परंतु भावपक्ष में वह लोक-जीवन और कृष्णपक्ष को लेकर ही चले थे।

कवियों की अनुकरण-प्रवृत्ति का फल यह हुआ कि वह उत्तर कालीन संस्कृत आचार्यों की दुनिया में रहने लगे। अलंकारों और नायक-नायिकाओं के बाहर की दुनिया के दर्शन उन्हें नहीं हुए। उन्होंने अपने स्वतंत्र चिन्तन की बलि कर दी। स्वतंत्र चिन्तन की ही नहीं, स्वतंत्र व्यक्तित्व की भी।

रीति-काव्य का जन्म अथवा अभ्युदय (१६५० तक)

रीति-ग्रन्थों के प्रणयन का चलन कृपाराम (आ० का० १५४१) से बहुत पहले हो गया था। कृपाराम ने लिखा है कि और कवियों ने बड़े छन्दों के विस्तार में शृङ्गार रस का वर्णन किया है। पर मैंने सुघरता के विचार से दोहों में वर्णन किया है। इससे हमारा मन्तव्य स्पष्ट है। परन्तु चूँकि अन्य रीति-ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं हो सके हैं। इसलिए इस परम्परा के आदि में

और लोकप्रिय कवि बिहारीलाल हैं। जिनका जन्म १६०३ के लगभग हुआ और जो अनुमानतः १६६३ के बाद तक रहे। वह प्रसिद्ध बिहारी-सतसई के रचयिता हैं। मतिराम (जन्म १६१७ के लगभग) ने अलंकार-ग्रंथ ललितललाम, पिंगल-ग्रंथ छन्दसार और रसग्रन्थ रसराज की रचना की। इनके अन्य ग्रन्थ साहित्य-सार, लक्षण शृङ्गार और मतिराम-सतसई हैं। कुलपति मिश्र ने रसरहस्य (रसग्रन्थ १६७०) की रचना की। यह ग्रंथ मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का छायानुवाद है। इनका नख-शिख सम्बन्धी एक अन्य ग्रन्थ भी है। सुखदेव मिश्र (क० का० १६६३-१७०३ ने वृत्तविचार (१६७१) और छन्दविचार नाम के ग्रन्थ लिखे। "ये बहुत प्रौढ़ कवि थे और आचार्यत्व भी इनमें पूरा था। छन्दशास्त्र पर इनका-सा विशद निरूपण और किसी कवि ने नहीं किया है।" फाजिल अली प्रकाश और रसार्णव में शृंगार रस के सुन्दर उदाहरण हैं। शृंगारलता एक और रीति-ग्रन्थ है। कालिदास त्रिवेदी ने १६६२ में 'वारवधूविनोद' ग्रन्थ लिखा। इसमें नायिकाभेद और नख-शिख-वर्णन हैं। इनके फुटकर कवित्त बहुत सरस हैं। राम (जन्म १६४६) ने नायिका-भेद का एक ग्रन्थ 'शृङ्गार सौरभ' लिखा। निवाज (आ० १६४० के लगभग) ने संयोग शृंगार के वर्णन में फुटकर छन्दों की रचना की। ये इनकी काव्य-कुशलता और सहृदयता के प्रमाण हैं।

परम्परा-पालन (१७००-१८००)

अगली शताब्दी में रीति-काव्य की धारा ही प्रधान रही। पिछली शताब्दी के कई प्रसिद्ध रीति-कवि इस काल में भी लिखते रहे। जिनमें देव[1] (देवदत्त, जन्म १६७३) सबसे प्रमुख

---

१ इनके ग्रंथों की संख्या के संबंध में मतभेद है परंतु इसमें कोई संदेह

मिलते हैं। इसके बाद सेनापति का नाम आता है जिनका जन्म-काल १५८६ के आस-पास है। इनकी विशेषता है इनका सुन्दर प्रकृति-वर्णन। यह सहृदय शृङ्गारिक कवि हैं परन्तु भावुकता के साथ चमत्कार को भी निभाते चलते हैं। १६३१ में सुन्दर कविराय ने 'सुन्दर शृङ्गार' नाम का नायिका-भेद का ग्रन्थ लिखा।

रीति-काव्य का स्वर्ण युग (१६५०-१७००)

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते रीति-काव्य की धारा साहित्य में सबसे प्रधान धारा हो चली थी। अगले पचास वर्षों में जिस रीति-साहित्य का निर्माण हुआ वह किसी भी काल के सर्वोच्च साहित्य की तुलना में रखा जा सकता है। इस विकास के प्रथम कवि चिन्तामणि त्रिपाठी (जन्म १६०६ रचनाकाल १६४३) हैं। इन्होंने काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों पर लिखा "बहुत दिन तक नागपुर के सूर्यवंशी भोंसला मकरंद शाह के यहाँ र और उन्हीं के नाम पर 'छंदविचार' नामक पिंगल का एक बहुत भारी ग्रंथ बनाया और 'काव्यविवेक', 'कवि-कुलकल्पतरु', 'काव्यप्रकाश' और 'रामायण' ये पाँच ग्रंथ इनके बनाये हमारे पुस्तकालय में मंजूद हैं। इनकी बनाई रामायण कवित्त और नाना प्रकार के छंदों में बहुत अपूर्व है।" बेनी बंदीजन (आ० १६४२) के नखशिख और षटऋतु-सम्बन्धी फुटकर पद मिलते हैं। महाराज जसवंतसिंह (१६१६-१६७४ ई०) ने 'चन्द्रालोक' की छाया लेकर 'भाषाभूषण' की रचना की। इस ग्रन्थ में चन्द्रालोक के अनुकरण में एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों रखे गये, इसलिए सुविधापूर्ण होने के कारण रीति-काव्य के अभ्यासियों में इसका खूब प्रचार रहा। इस ग्रंथ की अलंकार रत्नाकर, (वंशीधर १७३५), (प्रतापसाही) और भूषणचन्द्रिका (गुलाब कवि) टीकाएँ लिखी गईं। इस काल के सबसे प्रसिद्ध

भूपति[१०] (राजा गुरुदत्तसिंह) तोषनिधि[११] (आ० १७२४), दलपतिराम और वंशीधर[१२] (आ० १७२५), सोमनाथ[१३] (क० का० १७३३—१७३८), रसलीन[१४] (सैयद गुलामनबी आ० १७३७), रघुनाथ वंदीजन[१५] (क० का० १७३३—१७५३) दूलह[१६] (क०का० १७४३—१७६८) कुमारमणि भट्ट[१७] (१७४६), शम्भुनाथ मिश्र प्रथम[१८] (आ० १७४६) रूपसिंह[१९] (आ० १७५६), ऋषिनाथ[२०] (क०का० १७३३—१८३८ तक), वैरीसाल[२१] (आ० १७६८), दत्त[२२] (आ० १७७२), रतन कवि[२३] (जन्म १७४१)

---

१० सतसई, कंठाभूषण और रसरत्नाकर ग्रन्थों की रचना की।

११ ग्रंथ हैं सुधा निधि, विनयशतक और नखशिख।

१२ इन दोनों ने "अलंकार रत्नाकर" लिखा।

१३ इनके ग्रंथ ''रसपीयूषनिधि' में समस्त काव्यांगो का अत्यन्त विशद विवेचन है। इनके कुछ अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।

१४ 'अंगदर्पण' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। रसनिरूपण-सम्बंधी एक दूसरा ग्रंथ 'रसप्रबोध' भी उपलब्ध है।

१५ इनकी रचनाएँ काव्यकलाधर, रसिकमोहन, जगतमोहन और महोत्सव हैं।

१६ "कविकुलकंठाभरण" इनका प्रसिद्ध अलंकार-ग्रन्थ है।

१७ इनका ग्रंथ है "रसिकरसाल"।

१८ इनकी रचनाएँ हैं रसकल्लोल, तरंगिणी, अलंकार-दीपक।

१९ रीति-सम्बंधी ग्रंथ "रूपविलास" के रचयिता।

२० अलंकार-मणि-मंजरी के रचयिता।

२१ अलंकार-सम्बंधी भाषाभरण रचा है।

२२ अलंकार-सम्बंधी ग्रंथ लालित्यलता के रचयिता।

२३ समस्त काव्यांगों पर "फतेहभूषण" नाम के ग्रंथ की रचना की है। इनका दूसरा ग्रंथ केवल अलंकार से सम्बंध रखता है। इसका नाम अलंकारदर्पण है।

हैं। इस शताब्दी के अन्य प्रमुख कवि श्रीधर[१] या मुरलीधर[२] (१६८८ के लगभग जन्म) सूरति मिश्र[३], (कविताकाल १८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) कवींद्र उदयनाथ[४] (जन्म १६६६) श्रीपति[५], (आ० १७२०) वीर[६] (आ० १७२२), रसिक सुमति[७] (आ० १७८५) गंजन[८] (१७२६), भिखारीदास[९] (कं० का० १७३१—१७५०)

नहीं कि इनका साहित्य विशद है। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने इनके २५ ग्रंथों का उल्लेख इस प्रकार किया है—भावविलास, अष्टयाम, भवानी-विलास, सुजानविनोद, प्रेमतरंग, रागरत्नाकर, कुशलविलास, देवचरित्र, प्रेमचंद्रिका, जातिविलास, रसविलास, काव्यरसायन या शब्दरसायन, सुखसागरतरंग, वृत्तविलास, पावसविलास, ब्रह्मदर्शनपचीसी, तत्वदर्शन-पचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, जगद्दर्शनपच्चीसी, रसानंदलहरी, प्रेम-दीपिका, सुमिलविनोद, राधिकाविलास, नीतिशतक, नखशिख, प्रेमदर्शन।

२ नायिकाभेद, चित्रकाव्य आदि के रचयिता।

३ अलंकारमाला, रसरत्नमाला, सरसरस, रसग्राहकचंद्रिका, नख-शिख, काव्यसिद्धांत, रसरत्नाकर इनके ग्रंथ हैं।

४ ग्रंथ हैं, रसचंद्रोदय, विनोदचंद्रिका, जोगलीला।

५ ग्रंथ हैं, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रास-विनोद, विक्रम विलास, सरोजकलिका, अलंकार गंगा।

६ कृष्णचंद्रिका ग्रंथ के रचयिता हैं।

७ इन्होंने अलंकार चंद्रोदय ग्रंथ रचा है जिसका आधार-ग्रंथ कुवलयानंद है।

८ इन्होंने १७५६ ई० में कमरुद्दीन हुलास नामक शृङ्गार रस का एक ग्रंथ बनाया जिसमें भावभेद, रसभेद के साथ षटऋतु का विस्तृत वर्णन किया।

९ इनके ग्रंथ हैं रससारांश, छंदोर्णव पिंगल, काव्य निर्णय, शृङ्गारनिर्णय, नामप्रकाश, विष्णुपुराण भाषा, छंदप्रकाश और अमरप्रकाश। इनमें काव्यनिर्णय सब से महत्वपूर्ण है।

प्रवृत्ति शृंगार से प्रभावित अवश्य थे। इन कवियों में हमें कुछ ऐसे कवि मिल जाते हैं। जिन्होंने परम्परा का पालन नहीं किया था और अत्यन्त अनुभूतिपूर्ण कविता की। घनानन्द ठाकुर और बोधा ऐसे ही कवि हैं। सबलसिंह चौहान ने (आ० १६६?—-१७२४) ने ऋतुशृंगार भाषानुवाद किया और रूपविलास तथा एक पिंगल ग्रन्थ लिखा। वृन्द कवि ने शृंगार-शिक्षा (१६६१) और भावपंचाशिक नाम की दो रस सम्बन्धी पुस्तकें लिखीं। आलम (आ० १६६३-१७०२) और शेख[३३], घनानन्द[३४] (१६८६-१७३६) रसनिधि[३५] (आ० १६११), ठाकुर बुन्देलखण्डी[३६] (जन्म १७६६), बोधा[३७] (बुद्धसेन जन्म १७४७ क० का० ७७३-१८०३) इस समय के कवियों में प्रमुख हैं।

---

३३ आलम की कविताओं का एक संग्रह 'आलमकेलि' नाम से प्रकाशित हुआ है यद्यपि इसमें संग्रहीत कविताओं के अतिरिक्त भी कितनी ही कविताएँ जनता में प्रचलित हैं। शेख़ इनकी प्रेमिका थी और बाद में पत्नी हुई।

३४ इनके ग्रंथ हैं सुजानसागर, विरहलीला, कोकसार, रसकेलि वल्ली। आचार्य शुक्लजी के अनुसार "कृष्ण-भक्ति-सम्बंधी इनका एक बहुत बड़ा ग्रंथ छत्रपुर के राजपुस्तकालय में है जिसमें प्रिया-प्रसाद, ब्रजव्यवहार, वियोगवेली, कृपाकंद निबंध, गिरिगाथा, भावना-प्रकाश, गोकुलविनोद, धाम-चमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, वृन्दामुद्रा, प्रेमपत्रिका, रसबसंत इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं।"

३५ इनकी "रतनहज़ारा" दोहा-ग्रंथ प्रसिद्ध है।

३६ इनकी कविताओं का एक संग्रह 'ठाकुर ठसक' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

३७ इनकी विरह वारीश रीतिकाव्य की विशिष्ट पुस्तक है। इनकी दूसरी पुस्तक का नाम है इश्कनामा।

हरिनाथ२४ (आ० १७६६) मनीराम मिश्र२५ (आ० १७७२), चन्दन२६ (आ० (१७८८), देवकीनन्दन२७ (क०का० १७८४-८११), महाराज रामसिंह२८ (आ० १७८२-१८१८), मानकवि२९ (आ० १७८७), थान कवि३० (आ० १७९१) बेनी३१ (क० का० १७९२-१८२३), और जसवन्त सिंह द्वितीय३२ (क० का० १७६९)

इस शताब्दी में अनेक ऐसे कवि हो गए हैं जिन्होंने अलंकार-निरूपण नहीं किया न रसग्रन्थ लिखा परन्तु जो युग की सामान्य

---

२४ इन्होंने "अलंकारदर्पण" नाम के ग्रंथ की रचना की।

२५ इनके दो ग्रंथ उपलब्ध हैं—छंदछगानी (छंदशास्त्र पर) और आनंद-मंगल (भागवत दशमस्कंध का पद्यानुवाद)

२६ एक दरजन से अधिक ग्रंथ लिखे जिनमें प्रमुख हैं—शृङ्गार-सागर, काव्याभरण और कल्लोलतरंगिणी।

२७ इन्होंने शृंगार चरित्र, अवधूतभूषण और सरफराज़ चान्द्रिका नाम के ग्रंथ बनाए हैं। ये ग्रन्थ रस, भाव, नायिकाभेद और अलंकारों से सम्बन्ध रखते हैं।

२८ इनके ग्रंथ हैं अलंकार दर्पण, रसनिवास और रसविनोद।

२९ इनकी रचना का नाम नरेन्द्रभूषण है। यह मुख्यतः अलंकार ग्रंथ है, परन्तु इसमें शृंगार एवं अन्य रसों के भी अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हैं।

३० इनका रीतिग्रन्थ "दलेलप्रकाश" काव्यांगों के संबन्ध में एक साधारण ग्रंथ है परन्तु उदाहरणों की भाषा और कला अत्यन्त पुष्ट है।

३१ इनके दो ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। एक अलंकार-सम्बन्धी टिकैतरामप्रकाश; दूसरा रस-सम्बन्धी 'रसविलास'।

३२ इनका शृङ्गार शिरोमणि एक वृहद् शृङ्गार-ग्रंथ है। कविता अधिक उत्कृष्ट नहीं है।

जसचन्द्रिका और 'वीरसिंह देव चरित उनके इस प्रयत्न को सूचित करते हैं। वास्तव में केशवदास की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी यद्यपि उनकी मूल प्रवृत्ति शृंगार और चमत्कार की ओर ही थी। उनकी रामचन्द्रिका हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है और तुलसीदास के सम्वादों को छोड़ कर उनके संवाद सर्वश्रेष्ठ हैं। इस ग्रन्थ में वे अपने पूर्ण आचार्यत्व के साथ उपस्थित होते हैं। यद्यपि उन्होंने छंद और अलंकार निरूपण को ही स्थान दिया है जो उनके पांडित्य का सूचक है और कहीं-कहीं प्रकृति-वर्णन में अत्यन्त अनर्गल कल्पनाएँ की हैं परन्तु इन सब दोषों के होते हुए भी रामचंद्रिका हमारे साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

चिन्तामणि त्रिपाठी

हिन्दी के इस रीतिकाल में केशवदास का अनुकरण नहीं हुआ, यह महत्त्व चिंतामणि त्रिपाठी को ही प्राप्त है। वे रसवादी थे और वे रस के अन्तर्गत ही अलंकारों को उनका उपयुक्त स्थान देते थे। उन्होंने भी काव्यशास्त्र के सब अंगों पर लिखा परंतु केशवदास की कविता के विरुद्ध उनकी कविता सच्चे हृदय की उपज थी जो भाषा-लालित्य और अनुप्रास का सहारा लेकर और भी हृदयग्राही हो गई है।

बिहारीलाल

रीतिकाल के सब से प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल हैं। रामचरितमानस के बाद पिछले २५० वर्षों में बिहारी-सतसई ही सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ रही है। ३२ मात्रा के छोटे से दोहे में बिहारी ने सौन्दर्य और प्रेम के अन्यतम चित्र भी दिये हैं और इस पर विशेषता यह है कि उनमें से अधिकांश दोहों के पीछे अलंकरण की प्रवृत्ति भी है। सचमुच बिहारी के दोहे हीरे की

केशवदास

केशवदास रीति-परम्परा के प्रथम आचार्य कहलाते हैं, यद्यपि इनसे पहले भी रीति-ग्रन्थों की रचना हो चली थी, जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं। जो हो, रीतिशास्त्र के सभी अंगों पर केशवदास से पहले नहीं लिखा गया था। अतः रीतिशास्त्र को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय केशवदास को ही है।

केशवदास अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों के मतावलम्बी थे, वे अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते थे। यद्यपि उन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है परन्तु रस की अपेक्षा अलंकार को ही श्रेष्ठ माना है। उनकी रचनाओं में भी इसी आदर्श का समर्थन दिखलाई पड़ता है। उनके अनेक पद अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप लिखे गये हैं और उनमें सहृदयता को कहीं भी स्थान नहीं मिला है। उन्होंने चमत्कार पर अधिक ध्यान रखा है और क्लिष्ट पदयोजना में तो वे अद्वितीय हैं जिसके कारण लोग उन्हें कठिन काव्य के प्रेत कहा करते हैं। परंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बहुत से पद ऐसे भी हैं जिनमें हृदय की वास्तविक प्रेरणा के दर्शन होते हैं। सच तो यह है कि जो कवि वृद्धावस्था में भी इतना रसिक हो सकता है कि युवतियों से वृद्ध कहे जाने पर शोक प्रगट करे वह सदैव चमत्कारप्रिय ही नहीं रह सकता।

केशवदास ने अपने समय की सभी काव्य-धाराओं में योग दिया है। रीति-काव्य के अन्तर्गत उनके दो ग्रन्थ कविप्रिया और रसिकप्रिया आते हैं। रामचन्द्रिका लिखकर उन्होंने रामकाव्य की पुष्टि की यद्यपि इस ग्रन्थ में उनका आदर्श भक्ति नहीं था वरन् छन्द-कौशल और वाग्वैदग्ध्य का प्रदर्शन था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने समय के वीररस-काव्य में भी योग दिया। जहाँगीर

कल्पना-कोष अत्यन्त सुष्ठ है। वह इतने बड़े पंडित नहीं हैं। जितने केशवदास और न इतने बड़े कलाकार हैं जितने बिहारी परंतु उनमें पांडित्य कला-कौशल, सांसारिक अनुभव और काव्य-प्रतिभा का इतना सुन्दर मिश्रण है कि वे रीतिकाल के प्रमुख कवि ठहरते हैं। उनका काव्य-क्षेत्र भी रीतिकाल के अन्य कवियों की अपेक्षा अत्यन्त ही व्यापक है और उनके प्रेम में लौकिक और पारलौकिक दोनों अंग बड़ी सुन्दरता से प्रकाशित हुए हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं की शृङ्गारिकता धीरे-धीरे संयत होती गई और वृद्धावस्था की दर्शन-पच्चीसियों में दार्शनिक और धार्मिक भावों के अनुभूतिपूर्ण वर्णन मिलते हैं।

भिखारीदास

रीतिकाल के आचार्यों में भिखारीदास का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बहुत से ग्रंथ लिखे हैं परन्तु उनमें कोई इतना लोकप्रिय नहीं रहा जितना काव्य-निर्णय। इस ग्रन्थ में उन्होंने छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष और शब्द-शक्ति आदि सभी काव्यांगों पर विचार किया गया है। यद्यपि इन सब विषयों पर विस्तार-पूर्वक लिखा गया है और अनेक स्थलों पर भिखारीदास की आलोचना-शक्ति के अच्छे दर्शन होते हैं परन्तु उन्होंने कई बड़े महत्त्व की उद्भावनाएँ की हैं। कहीं-कहीं लक्षण भी अपर्याप्त और भ्रामक हैं और उदाहरण उनसे मेल नहीं खाते। सच तो यह कि अन्य आचार्यों की भाँति भिखारीदास का आचार्यत्व भी पूर्ण नहीं था। उनकी महत्ता यही है कि उन्होंने इस क्षेत्र में और आचार्यों से अधिक कार्य किया। वे भी उन्हीं की तरह मूलतः कवि हैं और इसी रूप में उनका महत्त्व है। भिखारीदास की भाषा शब्दाडाम्बर और चमत्कार से रहित है और उनके कहने का ढंग बहुत विलक्षण है।

तरह कटे-छटे हैं। अनेक खंड-दृश्यों, अनेक मुद्राओं, अनेक अंग-भंगिमाओं और हाव-भावों तथा कार्य-व्यापारों में भाषा की समास-शक्ति और मधुरता का आश्रय लेकर उक्ति-कौशल के रूप में उपस्थित किया गया है। सारी बिहारी-सतसई ध्वनि-काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। कहीं-कहीं व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर गई है और ऐसे स्थानों पर व्यगार्थ को समझने के लिए अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। संचारी भावों की व्यंजना, अनुभावों और हावों की योजना, वर्णन-वैचित्र्य, शब्द-वैचित्र्य और सौंदर्य तथा प्रेम की मार्मिक व्यंजना में बिहारी-सतसई के जोड़ का दूसरा ग्रन्थ हिंदी में नहीं है।

मतिराम

मतिराम की सर्वश्रेष्ठ विशेषता उनकी प्रसादपूर्ण सरल, कोमल व्रजभाषा है जो उनके भावों को अत्यन्त सरसता से प्रक्रमशील कर देती है ऐसे सुन्दर, मधुर और रसस्निग्ध भाषा रीतिकाल के किसी कवि ने नहीं लिखी।

मतिराम के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ रसराज और ललितललाम हैं परंतु उनकी सतसई भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह अवश्य है कि मतिराम-सतसई की अलंकार-योजना बिहारी-सतसई की अलंकार-योजना जैसी नहीं है। परंतु भाषा और भावों की उत्कृष्टता की दृष्टि से वह प्रत्येक प्रकार बिहारी-सतसई के समकक्ष रखी जा सकती है। रसराज और ललितललाम के छन्द रस और अलंकार के उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किये गये हैं परंतु उनकी कविता भी अत्यन्त रमणीय है।

देव

देव सौंदर्य के बहुत बड़े पारखी हैं उनका शब्द-भण्डार और

यह कोई कम महत्त्व की बात नहीं है कि इन कवियों ने लक्षण-निरूपण को अस्वीकार कर स्वतंत्र रूप से रचनाएँ उपस्थित कीं। इतना बड़ा विशाल काव्य-साहित्य इन कवियों ने तैयार कर दिया कि आज हम दो-चार बड़े-बड़े ग्रन्थों में ही उसका सम्यक् निरूपण कर सकते हैं। साधारण पाठक के लिए तो अधिकांश काव्य कूट है। साहित्यशास्त्र के ज्ञान के बिना इस कूट का खोलना भी असंभव है। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने प्रतापसाही के "व्यंगार्थ कौमुदी" ग्रन्थ को लेकर इस बात को समझाया है प्रतापसाही का एक छंद है—

सीख सिखाई न मानति है, बर ही सब संग सखीन के आवै
खेलत खेल नये जल में, बिना काम वृथा कत जाम बितावै
छोड़ि कै साथ सहेलिन को, रहि कै कहि कौन सवादहि पावै
कौन परी यह बानि, अरी ! नित नीर-भरी गगरी ढरकावै

इस पर व्याख्या करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"सहृदयों की सामान्य दृष्टि में तो वयःसंधि की मधुर क्रीड़ा-वृत्ति का यह एक परम मनोहर दृश्य है। पर फ़न में उस्ताद लोगों की आँखें एक ओर ही ओर पहुँचती हैं। वे इसमें से वह व्यंग्यार्थ निकालते हैं—घड़े के पानी में अपने नेत्रों का प्रतिबिम्ब देख उसे मछलियों का भ्रम होता है। इस प्रकार का भ्रम एक अलंकार है। अतः भ्रम या भ्रांति अलंकार यहाँ व्यंग्य हुआ। और चलिए। 'भ्रम' अलंकार में 'सादृश्य' व्यंग रहा करता है अतः अब इस व्यंगार्थ पर पहुँचे कि "नेत्र मीन के समान हैं।" अब अलंकार का पीछा छोड़िए, नायिकाभेद की तरफ आइए। वैसा भ्रम जैसा ऊपर कहा गया है "अज्ञातयौवना को हुआ करता है"। अतः ऊपर का सवैया अज्ञातयौवना का उदाहरण हुआ। यह इतनी बड़ी अर्थ-यात्रा रूढ़ि के ही सहारे हुई है। जब तक यह ज्ञात न हो कि कवि-परंपरा में आँख की उपमा मछली से

पद्माकर

रीतिकाल के अन्तिम चरण के कवियों में पद्माकर सब से प्रसिद्ध हैं। उनकी रचनाएँ भी बहुत अधिक हैं। इनमें उत्तर रीतिकाल की कविता अत्यन्त प्रौढ़ता को प्राप्त हुई है। वह कलाकार कवि हैं। उन्होंने अपने छन्दों में अनुप्रास-योजना पर बहुत ध्यान दिया है यद्यपि उनमें भावों का प्रकाशन अत्यन्त सरलता से हुआ है और हावों के बड़े सुन्दर चित्र आए हैं। पद्माकर का सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ जगत्-विनोद है। इसमें उनकी कल्पना, भावुकता और भाषा की अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। भाव के अनुसार चलने वाली भाषा में इनकी तुलना बहुत कम कवियों से की जा सकती है। उनकी कविता में लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता का ऐसा सामंजस्य है कि इनके पद चमत्कार जान पड़ते हैं।

प्रतापसाही

यह रीतिकाल के अन्तिम महत्त्वपूर्ण आचार्य और कवि हैं। इन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इनके कवित्तों में आचार्यत्व और काव्यत्व का सुन्दर संयोग है। यद्यपि इनकी रचनाओं में रीति-काव्य की रूढ़िगत विशेषताओं की ही मात्रा अधिक पाई जाती है तथापि काव्य की दृष्टि से अनेक स्थलों पर मौलिकता के भी दर्शन होते हैं।

प्रतापसाही के बाद कोई बड़ा रीति-कवि नहीं हुआ यद्यपि परिपाटी का पालन १९वीं शताब्दी के अन्त तक होता रहा।

रीतिकाल के इन कवियों में कुछ ऐसे कवि भी मिलते हैं जिन्होंने रीति-परिपाटी से अलग होकर कविता लिखी। इन कवियों में घनानन्द शुद्ध ब्रजभाषा के प्रयोग के लिए भी प्रसिद्ध हैं।

काव्य के सम्मुख विशेष आह्लादक जान पड़ता है। संसार की अन्य भाषाओं के प्रेम-काव्य के सम्मुख हम इन्हीं प्रेमी कवियों के काव्य को रख सकते हैं। हरिश्चंद्र (१८५०-१८८५) इन प्रेमी कवियों की परम्परा में अंतिम कवि हैं और उनके बाद रीति-काव्य का स्रोत शास्त्र और अनुकरण की मरुभूमि में खो गया।

प्रेम मानव-जीवन की सब से उदात्त वृत्ति है। प्रारम्भिक आदिम अवस्था से निकाल कर मनुष्य को देवता के मार्ग पर डालने का श्रेय इसी वृत्ति को है। मानव की सारी कथा, सारा साहित्य, सारा साहस इसी प्रेम वृत्ति के बल पर खड़ा हुआ है। इसी से संसार के साहित्य का अधिकांश भाग संयोग, वियोग, प्रेम-जन्य ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम-जन्य साहस, प्रेमी की असफलता आदि विषयों से भरा पड़ा है। कालिदास के नाटकों और महाकाव्यों में पहली बार हम प्रेम की भारतीय साधना-पद्धति का उदात्तरूप पाते हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी में संस्कृत का वीर-काव्य और पौराणिक काव्य तैयार हुआ। चौथी और पाँचवीं शताब्दी को भारतवर्ष का स्वर्ण युग कहा जाता है। यह गुप्तों का युग था। महाकवि कालिदास का काव्य इसी युग का प्रतिनिधित्व करता है। हर्षवर्द्धन के समय (६०७ ई०—६५७ ई०) तक संस्कृत साहित्य की वे रचनाएँ उपस्थित हो चुकी थीं जो आज भी उसके गौरव का कारण हैं। इस साहित्य का एक बड़ा भाग प्रेमवृत्ति से संबन्धित था। अगली तीन शताब्दियों का इतिहास भारत के पतन का इतिहास है। इस काल में ऐसी शक्तियाँ उदय हुईं जिन्होंने राष्ट्र की एकसूत्रता को नष्ट कर दिया। १००० ई० के लगभग हिंदी के चारण काव्य का उदय हुआ। इन तीन शताब्दियों में प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में प्रेम, विलास और यौवन की चुहलों को लेकर ऐसी कविताएँ हुईं जिनपर छोटे-छोटे आश्रयदाता सामंत रीझ जाते

दिया करते हैं, तब तक यह सब अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता।" वास्तव में प्रत्येक प्रकार की कविता की अपनी रूढ़ियाँ बन जाती हैं और उन रूढ़ियों के भीतर से ही काव्य-सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। सिद्ध-काव्य और संत-काव्य में ये रूढ़ियाँ धार्मिक प्रतीकों (रूपकों) का रूप ग्रहण कर लेती हैं और कृष्ण-काव्य में आध्यात्मिक रूपक बन जाती हैं। रीति-काव्य की अपनी परम्परा है। उसके साहित्य की अपनी रूढ़िया हैं। वास्तव में हिन्दी रीतिकाल की पृष्ठभूमि में संस्कृत का वह सारा काव्य और आचार्यत्व आ जाता है जो ईसा की पहली शताब्दी से ईसा की सातवीं शताब्दी तक भारतीय राजाओं और सामन्तों के राजदरबारों में विकसित हुआ। इस पृष्ठभूमि को यदि हटा लिया जाय, तो हिन्दी रीति-काव्य इतनी बड़ी उलझन हो जाता है जिसका सुलझाना कठिन ही नहीं, असंभव है।

परन्तु रीतिकाल के सभी कवि इतने बड़े संस्कृत-पंडित नहीं थे कि लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण करते। अनुभूति ही उनका एकमात्र सहारा थी। अतः रीति-काव्य "लिखने वालों में ऐसे भी बहुत से कवि मिलेंगे जिनकी कविता शास्त्रद्वारा नहीं समझी-समझाई जा सकती। जिन अनुभूति को उन्होंने अपने काव्य में प्रकाशित किया है, वह सब काल में सर्वग्राह्य है। बिहारी और मतिराम ऐसे ही कवि हैं, परन्तु उनमें विद्वत्ता और अनुभूति का सुन्दर मिश्रण है। परन्तु आलम, शेख, तीनों ठाकुर, घनानन्द, रसखान और बोधा प्रधानतः अनुभूति को लेकर चलते हैं और वास्तव में रीतिकाल के शुद्ध कवित्व का प्रतिनिधित्व उन्हें ही मिलना चाहिये। इनमें से अधिकांश ने अपने जीवन में संयोग के सुख और वियोग के दुःख का अनुभव किया था। शास्त्र के भीतर से नहीं, जीवन के भीतर से उन्होंने प्रेम को पहचाना था। अतः इन परवर्ती कवियों का काव्य रूढ़िग्रस्त आचार्यों के

ध्यान उपरोक्त प्रवृत्तियों से हटा कर धर्म की ओर खींचा। अतः रीतिकाव्य की धारा कृष्ण-भक्ति-काव्य में होकर बहने लगी और उसका रूप विकृत हो गया। वास्तव में कृष्ण-भक्ति-काव्य में प्रच्छन्न रूप से रीति और शृंगार का आग्रह है। राधा और गोपियों को लेकर कृष्ण के जो प्रेम-प्रसंग मिलते हैं, उन्हें जहाँ धर्मप्राण साधक रूपक और अध्यात्म के रूप में ग्रहण करता था, वहाँ साधारण रसिक रीति-काव्य के रूप में उससे आनन्द लेता था। जब एक शताब्दी बाद यह धार्मिक प्रभाव कम हो गया, तो रीतिकाव्य की धारा अपने असली रूप में सामने आई। इस समय कवियों ने एक नई परिपाटी से काम लिया। उनकी दृष्टि संस्कृत के आचार्यों पर गई और उन्होंने साहित्य-शास्त्र की आवश्यकता समझते हुए रीति के हिन्दी ग्रन्थ उपस्थित करना आरम्भ किये। उन्होंने सामंती संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य को आदर्श मानकर स्वतंत्र रूप से प्रेम-विलास को लेकर रीति-काव्य की सृष्टि की। पिछले सामंती कवियों की तरह यह भी छोटे-छोटे सामंतों, राजा नवाबों और धनीमानी आश्रय-दाताओं को एक साथ प्रेम-विलास, वासना, पांडित्य, नीति और थोथे वीरत्व का उपदेश देने लगे। अमृत कहकर इन्होंने विष का व्यापार किया। हाँ, कुछ थोड़े कवि शुद्ध प्रेम के उदात्त और त्यागमय रूप को लेकर चले। बिहारी इन कवियों में से एक थे। इन्हीं कवियों का काव्य सामान्य रीति-काव्य को लांछा को दूर कर सकता है।

थे। 'योनि मात्र रह गई मानवी'। उस समय उद्दण्डता को साहस कहा जाता था और विकास को प्रेम का नाम दिया जाता था। हिंदी के सारे चारण-काव्यों में अपरोक्ष रूप से वासना के स्वर बजते हैं। पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज की अनेक लड़ाइयों का वर्णन है, परन्तु पृथ्वीराज के वीरत्व की क़लई तब खुल जाती है जब हम यह जानते हैं कि इन युद्धों के मूल में जो भावना है वह उदात्त प्रेम या राष्ट्रीयता की भावना नहीं है। उनकी मूल प्रेरणा नारी-लिप्सा है और देश को खंड-खंड करने में यह नारी-लिप्सा सहायक हुई है। सामंती युग (६०० ई०-१२००ई०) का सारा काव्य अप्रगतिशील, राष्ट्र की नाशक और हीन मनोवृतियों को प्रश्रय देने के दोष से लांछित है। वह हमारे ऐतिहासिक अध्ययन का विषय अवश्य हो सकता है, परंतु राष्ट्र की धमनियों में प्राण का संचालन नहीं कर सकता। कालिदास की सौन्दर्य और प्रेम की उदात्त रचनाओं के सामने हाल की गाथा-सप्तशती रखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

हिंदी में प्रेम और विलास की कविता का प्रारम्भ विद्यापति (१३७५ ई०-१४४८ ई०) से होता है। स्वयं विद्यापति अपने पूर्ववर्ती राजकवि जयदेव और सामंतों के प्रेम-काव्य से प्रभावित थे। न जाने कितने राजाओं के आश्रय में उन्होंने अपनी कविताओं की रचना की, परन्तु हिंदू-मुसलमान-संघर्ष के इस काल में वे बराबर नायक-नायिकाओं और दूतियों की चुहलों में लीन रहे। यह स्पष्ट है कि विद्यापति पर रीति-विचार-धारा का गहरा प्रभाव है। यदि विद्यापति के बाद अगली शताब्दी में ब्रज के धार्मिक आन्दोलन उठ खड़े नहीं होते तो १४०० ई०—१६०० ई० तक के काव्य में हम रीति-कविता का विशेष विकास पाते। परंतु इन धार्मिक आन्दोलनों ने जनता और कवियों का

विद्यापति, सूर और अष्टछाप के कवियों, हितहरिवंश और अन्य साम्प्रदायिक कवियों ने राधाकृष्ण को लेकर परोक्ष भाव से प्रेमी-प्रेमिकाओं की चुहलों को इतने विस्तार से लिखा है कि परवर्ती रीतिकाल में अपने रूप में कुछ कहने को ही नहीं रह गया। इन कवियों के काव्य को लेकर ही वे आगे बढ़े हैं या इन्होंने संस्कृत के आचार्यों की रस और अलंकार-संबन्धी मान्यताओं को स्वीकार कर एक नई श्रेणी के कलात्मक काव्य को जन्म देने की चेष्टा की है। संस्कृत के आचार्य अलंकार-शास्त्र और रस-ग्रन्थों में उदाहरण-स्वरूप प्राकृत, अपभ्रंश (भाषा) और संस्कृत के श्लोक उद्धृत करते थे। उन्होंने स्वयं उदाहरण उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया। यों तो हिन्दी के आविर्भावकाल में ही अलंकारशास्त्र पुष्ट हो चुका था। कवि लोग काव्य-विवेचना को दृष्टि में रखकर कविता करते थे। चंद, सूर, तुलसी आदि में वह वस्तु स्पष्टतया लक्षित है। चारण और भक्ति दोनों कालों में चारणों एवं भक्तों ने कवित्व-कौशल दिखाने की चेष्टा की है। उन्होंने रस, अलंकार और नायिकाभेद को कुछ-कुछ दृष्टि में अवश्य रखा है।

रीतिकाल में काव्य-कौशल (कला) का महत्त्व अधिक हो गया। रस, अलंकार और नायिकाभेद ही सब कुछ हो गये, भाव की मौलिकता कुछ नहीं रही। इसी से फुटकर (मुक्तक) पदों की भरमार हो गई। सारा रीतिकाव्य मुक्तक रूप में उपस्थित हुआ है। यह मुक्तक काव्य दोहा, सवैया और कवित्त छन्द में ही अधिक है। सब से आश्चर्य की बात यह है कि इसका अधिकांश भाषा, रस, अलंकार एवं नायिकाभेद के उदाहरण के रूप में उपस्थित किया गया है। वास्तव में नायिकाभेद रस-शास्त्र के ही अंतर्गत आ जाता है, परंतु रीति-काव्य के कवियों ने इसे

परिशिष्ट २

प्रेम और विलास की कविता

हिंदी काव्य-धारा का एक प्रधान अंग प्रेम और विलास की कविता है। विद्यापति, सूरदास, बिहारी और केशवदास इस प्रकार की कविता के सर्वोच्च स्तम्भ हैं। सच तो यह है कि प्रेम और विलास सब से व्यापक मानवीय प्रवृत्ति है और प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न रूप मे प्रत्येक भाषा के साहित्य का सब से बड़ा भाग प्रेम और विलास को छूता है। हिंदी भी इस व्यापक नियम का अपवाद नहीं है। सब से पहले प्रामाणिक ग्रंथ बीसलदेव रासो (१२१२ ई०) में हमें शृङ्गार (प्रेम-विलास) के ही दर्शन होते हैं और 'रासो' की वीरगाथाओं के मूल में प्रेम आदि विलास का ही अट्टहास है। नख-शिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन जैसी अनेक प्रवृत्तियाँ संस्कृत और अपभ्रंश के काव्य से हिंदी में बहुत पहले ही आ गईं। वैसे हम शृङ्गार काव्य या रीतिकाल को १६०० ई० से १८०० ई० तक सीमित करते हैं परंतु वास्तव में प्रेम और विलास की धारा व्यापक रूप से अविच्छिन्न होकर हमारे साहित्य के आरंभ से अब तक बराबर बढ़ रही है। युग के अनुसार जहाँ अन्य धर्मों की व्याख्या बदलती है वहाँ प्रेम की परिभाषा में भी अंतर हो सकता है, परंतु नारी-सौन्दर्य और यौनाकर्षण के चित्र इस एक सहस्र वर्ष की कविता-धारा में बराबर मिलते रहते। रीतिकाल में प्रेम और विलास के सुर स्पष्टतः ही प्रधान हो गये थे, युग की प्रवृत्तियों के कारण, परंतु इस अंतर को इससे कुछ दूर बढ़ाया नहीं जा सकता।

ने संस्कृत की सारी रूढ़ियाँ और कवि-प्रसिद्धियाँ नहीं अपनाईं तो उसने स्वयम् इस प्रकार की कुछ नई रूढ़ियाँ गढ़ लीं जिनसे कवि बराबर प्रभावित होते रहे। हाँ, एक हद तक इन कवियों ने लोक जीवन को अधिक निकट से देखा, विशेषकर जहाँ तक शृङ्गार का सम्बन्ध है। परन्तु उन्होंने बहुधा उसे राधाकृष्ण की प्रेमलीला के रूप में हमारे सामने रखा। वास्तव में अलौकिक शृङ्गार की लौकिक प्रतिष्ठा भक्तों ने ही कर दी थी। कृष्ण-गोपी-राधा की प्रेम-विरह और अभिसार की कथाएँ लोक-जीवन के प्रेम-विरह और अभिसार से मिल गई थीं। रीतिकाल में भक्ति की तन्मयता कम रही, काव्य और कथा का पक्ष अधिक दृढ़ होने के कारण उसका रूप ही बदल कर सामने आया। भक्तों की कृपा से लोग लौकिक जीवन में अलौकिक और अलौकिक जीवन में लौकिक देखने लगे थे। शृङ्गार के समुद्र में कहीं-कहीं इनके भक्त-हृदय की झलक भी मिल जाती है, तो हम आश्चर्य करते हैं, परन्तु यह आश्चर्य की बात नहीं। सच तो यह है कि काव्यपक्ष में उन्होंने शास्त्रीय परम्परा (रस, अलंकार) का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था, परन्तु भावपक्ष में वह लोक-जीवन और कृष्णचरित को ही लेकर चल रहे थे। कवियों की इस अनुकरण प्रवृत्ति का फल यह हुआ कि वह उत्तर-कालीन संस्कृत-आचार्यों की दुनिया में रहने लगे। अलंकारों और नायिकाभेद से बाहर की दुनिया के इन्हें दर्शन भी नहीं हुए। उन्होंने अपने स्वतंत्र चिन्तन की बलि कर दी। स्वतंत्र चिंतन की ही नहीं, स्वतंत्र व्यक्तित्व की भी।

रीति के तीन अंग हैं—रस, अलंकार और ध्वनि। रस की शास्त्रीय व्यवस्था सबसे प्राचीन है। यह भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में मिलती है। वास्तव में रस का प्रधान माध्यम नाटक ही होगा। अलङ्कारशास्त्र का सम्बन्ध केवल भाषा से है, अतः

स्वयं एक स्वतंत्र शास्त्र बना दिया। सच तो यह है कि रीति-युग की मौलिकता नायिकाभेद के विस्तार में ही है। नाट्य शास्त्र की एक सामान्य बात को लेकर इतना तूल दे दिया गया है। कवियों की प्रवृत्ति अलंकार की अपेक्षा नायिकाभेद की ओर ही अधिक रही।

परंतु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि इस २००-२५० वर्ष के कवियों के काव्य को क्या रस, अलंकार और नायिका-भेद के उदाहरण के रूप में ही समझा जाये ?.यह भूल होगी। सारे रीतिकाल में रस और अलंकारों के वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय विवेचना की प्रवृत्ति कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ती। विवेचना के लिए दोहा जैसे छोटे छन्द का प्रयोग किया गया है, अतः यह स्पष्ट है कि विवेचना उनका ध्येय थी ही नहीं। जिस तरह पिछले कवि (भक्त-कवि) राधा-कृष्ण की लीला-कथा को कविता करने का बहाना समझते थे, उस तरह इस युग के कवि लक्षणों को बहाना-मात्र समझते थे। सच तो यह है उन्हें एक अच्छा सहारा हाथ लग गया था। इसी से वह अपने उदाहरणों में अधिक सतर्क भी नहीं जान पड़ते। इसी से कहीं-कहीं जब उन्हें यह जान पड़ता है कि उनका उदाहरण उस अलंकार में नहीं आता जिसके उदाहरण-स्वरूप वह उपस्थित किया गया है, तो वह एक नया अलंकार-भेद ही गढ़ लेते हैं।

इस युग के आश्रय-ग्रंथ कुवलयानन्द चंद्रलोक.अथवा इसी युग के किसी हिन्दी कवि के अलंकार-ग्रंथ थे। जिन कवियों ने लक्षणों के रूप में अपनी कविता उपस्थित नहीं की, वह भी रीति-ग्रंथों से प्रभावित थे। इन उदाहरण-वृत्ती प्रेम-कविताओं में नायक का वर्णन बहुत कम किया गया है और स्त्री रूप के बहुत से पुराने उपमानों को भुला दिया गया है। परन्तु यदि रीतिकाल

हिन्दी रीति-काव्य इस तरह से आंशिक मौलिक और अस्पष्ट रहा।

इसी रीति-विवेचन में एक चौथी धारा कामशास्त्र की भी मिल गई थी। ऐसा संस्कृत में ही हो चुका था। संस्कृत में कवि प्रेमप्रसंग में कामशास्त्र के ज्ञान का भी पर्याप्त परिचय देते थे। हिंदी में प्रेम के व्यावहारिक प्रसंग में इससे सहायता ली गई। परन्तु रीति-अंगों के अतिरिक्त संस्कृत-काव्य-रूढ़ियाँ और स्वयं शृंगारात्मक संस्कृत काव्य का भी हिंदी प्रेम और विलास की कविता पर प्रभाव पड़ा है। स्त्री के अंगों के उपमान, कवि-प्रसिद्धियाँ, छन्द—सभी विषयों में उस पर संस्कृत का आभार है। इनके अतिरिक्त हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य से भी सहायता ली गई। राधाकृष्ण के प्रेम-प्रसंगादि इसी स्रोत से लिये गये। इस प्रकार हिन्दी रीति-काव्य के अंग हैं—ग्राम्य जीवन, गृहस्थ जीवन, रस, अलंकार, ध्वनि काम-शास्त्र, राधाकृष्ण-लीला, नायिकाभेद, संस्कृत साहित्य में उपस्थित स्त्री के अंगों के उपमान, अन्य अनेक काव्य-रूढ़ियाँ और परंपराएँ।

रीतिकाव्य की मूल भावना शृङ्गार है। पुरुष-स्त्री के प्रकृत प्रेम का वर्णन, उनका यौवन-विकास, केलि-विलास, हास-परिहास संयोग-वियोग इस काव्य के विषय हैं। हम देखते हैं कि शृङ्गार की भावना ने हिन्दी के प्रारंभिक काल में ही हमारे साहित्य में प्रवेश कर लिया था। इस भावना को हम राजपूत चारणों की वीरकथाओं के केन्द्र में उपस्थित पाते हैं। 'रासो' के इतने सभी युद्धों का कारण स्त्री का सौन्दर्य है। आल्हा-ऊदल की लड़ाइयों में वीर रस पूर्वराग से ही परिचालित है, समाप्ति भी परिणय-ग्रन्थि में होती है। नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो तो

उसका माध्यम काव्य है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में केवल कुछ अलङ्कारों की चर्चा प्रसंगवश कर दी गई है परन्तु उसकी विशेष विवेचना बाद में हुई। ध्वनि-संप्रदाय (आनन्दवर्द्धन) ने दोनों को एकत्र किया। उन्होंने कहा—'रस ध्वनित भी हो सकता है, अतः जहाँ केवल अलङ्कार है, वहाँ भी रस की ध्वनि उत्पन्न की जा सकती है।' इस व्याख्या के अनुसार फुटकर पदों में अलङ्कार के साथ रस का सृजन भी संभव माना गया। हम यह कह चुके हैं कि भावधारा के रूप में शृङ्गार रस प्रधान है। परतु शास्त्रीय दृष्टि से अलंकारों को ही विशेष महत्त्व मिला है, रस को नहीं। वास्तव में रस, अलंकार और ध्वनि को एक स्थान पर एकत्रित करने की चेष्टा की गई है जो सब जगह समान रूप से सफल नहीं हुई है।

संस्कृत अलंकारशास्त्रों में आचार्य व्याख्याता होता था, कवि नहीं। वह अपने मत के समर्थन में प्रसिद्ध रचनाओं के लक्षण उपस्थित करता था। पुस्तकों से इस प्रकार के लक्षण उपस्थित करना मान्य था, इसलिए प्राकृत और संस्कृत के सैकड़ों मुक्तक पद और श्लोक उद्धृत किए गये। यहाँ हिंदी में एक दूसरी रीति चली। कवित्व और आचार्यत्व के गठबन्धन का प्रयत्न हुआ। ग्रंथकर्ता लक्षण स्वयम् गढ़ता था। रीतिकाव्य का एक बड़ा भाग अलंकारों के लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए ही लिखा गया है परन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने से यह पता चलता है कि हिन्दी रीति-काव्य के कवियों में रीतिशुद्धता और अन्वेषण की प्रवृत्ति इतनी नहीं थी जितनी किसी प्राचीन आचार्य के रीतिग्रंथ का सहारा लेकर स्वतंत्र रूप से लक्षण कह कर रचना करने की। इसी से कभी-कभी वह ऐसे लक्षण गढ़ते हैं जो किसी भी प्रकार परिभाषा पर पूरे नहीं उतरते या जब कभी उन्हें यह पता चल जाता है तो नये लक्षण गढ़ देते हैं।

न मौलिक तर्क-शक्ति ही थी। हाँ, कवि-प्रतिभा कम न थी। फल यह हुआ कि एक बहुत बड़ा साहित्य ऐसा तैयार हो गया जिसमें एक दोहे में लक्षण और कवित्त या सवैया में उदाहरण रहता। उदाहरण लक्षण पर सदा पूरा उतरे, यह बात नहीं। कभी-कभी दो लक्षण एक ही ठहरे, कभी लक्षण ही अस्पष्ट, ग़लत और भ्रामक होता, परंतु उदाहरण सदैव अत्यंत ऊँची कोटि के होते। वास्तव में आचार्यत्व का दम भरने वाले रीतिकालीन कवि उच्च प्रतिभासंपन्न कवि-मात्र थे।

इन रचनाओं की परम्परा में हमें सबसे पहले कृपाराम मिलते हैं जिन्होंने १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिततरंगिणी की रचना की। परन्तु असल में यह परम्परा १६वीं शती के आरम्भ से ही अथवा उससे भी कुछ पहले जाती है क्योंकि कृपाराम ने अपने पूर्ववर्त्ती रीतिकवियों के नाम लिखे हैं। इनके समसामयिक गोपकपि और मोहनलाल मिश्र के अप्राप्य ग्रंथों रामभूषण, अलंकार-चंद्रिका (गोप) और शृंगार-सागर (मोहनलाल मिश्र) का उल्लेख करना भी अनुचित न होगा।

इन अप्राप्य ग्रंथों के बाद हमें केशवदास के बड़े भाई पं० बलभद्र मिश्र का 'नखशिख-सम्बन्धी' ग्रंथ मिलता है। परन्तु हिन्दी काव्य-संसार की दृष्टि जिस रीतिकवि की ओर पहले-पहल जाती है वह महाकवि केशवदास हैं। रीतिकाल के कवियों में वे अग्रगण्य हैं। केशवदास ने रामचंद्रिका में रामकथा लिखी है परन्तु उसमें भक्ति-भावना नहीं है, पांडित्य-प्रकाशन ने उनकी अनेक कविताओं को ऊहापोहात्मक कर दिया है। उनमें वासना का भी गहरा पुट है। उनकी दूसरी रचना 'वीसलदेव चरित्र' है, परन्तु इससे वह वीर-काव्य लिखने वाले नहीं हो जाते। हमें उनकी रचनाओं की मूल प्रवृत्ति को देखना है। वास्तव में केशवदास

नाममात्र को वीर-काव्य है। उसमें नग्न प्रेम के वर्णन और नागमती के वियोग-वर्णन के सिवा कवि का क्या उद्देश्य है? उसे तो वीर-काव्य मानने की परिपाटी भर पड़ गई है जो इतिहासों में चली आ रही है। इसी प्रकार हम सिद्ध कवियों की साधनाओं के पीछे रतिभाव का विकृत रूप पाते हैं। इन्द्रिय-जन्य विकारों को साधना का मार्ग बनाया जा रहा है। विद्यापति के कृष्ण-काव्य में यदि राधा-कृष्ण के नाम हटा लिये जायें तो कुछ बहुत थोड़े पदों को छोड़ कर उनके सारे काव्य से अध्यात्म का आवरण उतर जाता है। यही बात सूफ़ी-कवियों के संबंध में पूर्णतः चरितार्थ है। कृष्ण-काव्य के इतर कवियों की मनोवृत्ति में तो कोई संदेह नहीं। मधुरभक्ति में लौकिक प्रेम को ही ईश्वरोन्मुख किया जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के आदिकाल से शृङ्गार रस का निरूपण होता चला आ रहा है। परन्तु उस पर वीरता अथवा अध्यात्म का आवरण है। धारा प्रच्छन्न रूप से चल रही है। आगे चलकर मुग़ल-कालीन विलासिता और संस्कृत के उत्तर-कालीन काव्यों और आचार्यों के प्रभाव के कारण जल ऊपर आ गया है और धारा साफ़ दिखलाई पड़ती है। १६वीं शताब्दी के ५० वर्ष बीतते-बीतते उसने केशवदास जैसे कवि को जन्म दे दिया है अब उसके अस्तित्व में संदेह ही नहीं रहा।

शृङ्गार-रस (रीति) की रचनाओं का एक दूसरा पहलू भी है। इन रचनाओं का सूत्रपात अधिकतर संस्कृत रीति-आचार्यों के रस, अलंकार या ध्वनि-संबंधी सूत्रों को पकड़ कर हुआ है अथवा इस युग के कवियों की एक विशेष प्रेरणा यह रही है कि वे रीतिशास्त्र-संबन्धी ग्रंथ लिखें और उदाहरण में अपने ही पद रचें। इन कवियों में अधिक पांडित्य और अध्ययन न था,

काव्य में इनका अनुकरण खूब हुआ। केशवदास की रसिकप्रिया और कविप्रिया प्रिय रहीं परन्तु उनकी परिपाटी नहीं बनी। केशव चमत्कारवादी थे। चिन्तामणि रसवादी। परवर्ती कवियों ने रस को दृष्टि में रखकर ही कविताएँ लिखीं। छन्दविचार, काव्यविवेक और कवि-कुल-कल्पतरु इनमें प्रमुख ग्रंथ हैं।

चिन्तामणि के अतिरिक्त प्रमुख रीति-कवि हैं सेनापति, विहारी, मतिराम, कुलपति मिश्र, महाराज जसवंतसिंह, वेनी, सुखदेव मिश्र। विहारीलाल तुलसी के बाद हिन्दी संसार के सहृदय समाज के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि रहे हैं। उनकी 'सतसई' पर दो दर्जन से अधिक टीकाएँ हमें प्राप्त हैं। 'सतसई'-परिपाटी उनसे पहले ही पड़ चुकी थी। वृन्द और तुलसी की सतसइयाँ उनसे पहले की रचनाएँ हैं, परंतु 'सतसई', 'शतक' आदि लिखने की परिपाटी विहारी-सतसई की लोकप्रियता से ही आरम्भ हुई। विहारी-सतसई में ७०० दोहे हैं। इनका रूप स्पष्टतः मुक्तक है। सतसई की उत्कृष्टता कई विशेषताओं के कारण है :

१—उसमें अत्यंत सुष्ठ समास-पद्धति का उत्कर्ष मिलता है। २४ मात्राओं के छोटे छंद में सुन्दरतम भाषा, विचारों और कल्पनाओं को इकट्ठा कर देना विहारी का ही काम था। इस काव्य को सच ही 'अक्षर कामधेनु' कहा जाता है। संक्षेप-शैली में ऐसी रस-सिक्त कविता कहीं नहीं मिलेगी।

२—वह अत्यंत ऊँची कोटि का ध्वनि-काव्य है।

३—रस, नायिका-भेद, अलङ्कार की दृष्टि से सतसई के दोहे कवि की भावुकता और उसके पांडित्य के अन्यतम साक्षी हैं।

४—उसमें हाव-भावों का अत्यंत सजीव वर्णन है। प्रकृति के जो चित्र दिये हैं, वे जैसे मीनाकारी के चित्र (Miniature Painting) हों।

ने अपने समय की सभी धाराओं को बल दिया है, परन्तु वे प्रतिनिधित्व रीतिकाव्य-धारा का ही कर सके हैं। उनकी रीति सम्बन्धी दो पुस्तकें हैं—रसिकप्रिया (शृङ्गार-रस-सम्बन्धी) और कविप्रिया (कवि-योग्य सभी जानने वाली बातों के संबंध में)। यही पुस्तकें हमारे सामने उनके प्रकृत रूप को रख देती हैं। इसी शताब्दी में हम ऐसे अनेक कवियों को पाते हैं जो मुगल-दरबार से संबंधित हैं या किसी देशी राजदरबार से। उनकी कविताओं में राजों की मनोवृत्ति साफ झलकती है। काव्य व्यवसाय हो रहा था। जनरुचि बिगड़ चुकी थी। कवियों के आश्रयदाताओं का यह हाल था :

अली कली सों ही बिंध्यौ (बिहारी)

ऐसी परिस्थिति में राजकीय विलासिता, युग की शिथिलता, बिगड़ी जनरुचि, संस्कृत आचार्यों का प्रभाव, और फारसी कविता के प्रभाव में होकर हिंदी काव्यधारा बही। राजदरबारों से संबंधित काव्य नीति और रीति का आश्रय लेकर चला। ऐसे रीति-कवियों में रहीम, गंग आदि प्रसिद्ध हैं। रहीम ने बरवै छंद में नायिकाभेद कहा है। बरवै तुलसी ने भी लिखे हैं, परन्तु रहीम की जोड़ के बरवै हिंदी साहित्य में मिलना कठिन हैं। इनके अतिरिक्त हरिनाथ, तानसेन, प्रवीणराम, करनेस, लालनदास अनेक कवियों ने इसी शताब्दी में शृङ्गार-रस की सुन्दर रचनाओं से हिंदी को विभूषित किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १६वीं शताब्दी में जहाँ भक्तिधारा और संतधारा पूर्ण बल से प्रवाहित थी, वहाँ रीति-काव्य-धारा भी निरंतर बल प्राप्त कर रही थी। शताब्दी के अंत में हम चिन्तामणि को प्रवेश करते हुए पाते हैं। परवर्ती हिन्दी रीति-

चिह्न स्पष्ट हैं। परन्तु पद्य में वही पुरानी तूती बोलती है। वही राधाकृष्ण को लेकर शृंगार काव्य की रचना। इस समय की काव्यभाषा ब्रज ही है। मुख्य कवि पद्माकर, ग्वाल, लछिराम, गोविन्द गिल्लाभाई, प्रतापशाह और पजनेश हैं। पद्माकर अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के संधिकाल में अपने उत्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। उनकी रचना रसपूर्ण और प्रवाहमय है जो इस अर्द्धशताब्दी की विशेषता है। हाँ, इस समय के कवियों ने इस बात को समझ कर भाषा के नवीन ढंग के प्रयोग से अपने काव्य में पिछले कवियों से कुछ विशेषता लाने की चेष्टा अवश्य की। स्वयम् पद्माकर ने शब्द-सौन्दर्य पर बल दिया। भावानुकूल शब्द-योजना, रसपोषक भाषा का प्रयोग, उक्तियों की नवीनता और रसिकता, अनुप्रास एवं वर्णमैत्री का प्राधान्य, अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग—ये बातें नई दशा को सूचित करती हैं। कवि भाव-मौलिकता की अधिक परवाह नहीं करता, परन्तु उसकी भाषा के नवीन प्रयोगों ने भाव में भी कुछ न कुछ मौलिकता उत्पन्न कर दी है चाहे उसे उसने संस्कृत अथवा भाषा के किसी पुराने कवि से ही क्यों न उधार लिया हो। भाषा की कारीगरी में पद्माकर और पजनेस इस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। पद्माकर के एक दरजन से अधिक ग्रंथों में जगद्विनोद और गंगालहरी सर्वोत्तम हैं। उनमें शृङ्गार और शांत रसों के उच्चकोटि के छंद मिलते हैं। ग्वाल कवि ने पचास से ऊपर ग्रंथों की रचना की है। उनमें बड़े ग्रंथ कम हैं। रीति-साहित्य के किसी अंग को इन्होंने छोड़ा नहीं परन्तु कविता अपने ऊँचे सिंहासन से कितना नीचे उतर आई यह इनकी कविताओं से जितना स्पष्ट है उतना पद्माकर की रचनाओं से भी नहीं। इनकी कविताओं में प्रेम के स्थान पर विलास है और अमीरों के ऐश्वर्य का चित्रण है। न भाषा के प्रयोग में ईमानदारी

५—नीति के दोहों में सांसारिक विषयों पर बड़ी ही मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं और भक्ति के दोहों में कवि उस रूप में भी बड़े सुन्दर रूप से हमारे सामने आता है।

सेनापति की गणना ब्रजभाषा के महाकवियों में की जाती है। उनका साहित्य प्रौढ़ और भावमय है। उनकी कल्पना उदात्त है और ब्रजभाषा तो उनके हाथ में आकर पूर्ण विकास को प्राप्त हो गई है। उनकी एक विशेषता यह है कि शृङ्गार और शांत दोनों रसों में उनकी रचनाओं का प्रौढ़तम रूप मिल सकता है। शृङ्गार रस की रचनाओं में उन्होंने अपूर्व मनोविज्ञान और हिंदू आचार के अध्ययन का परिचय दिया है। परंपरा के प्रभाव से जिस कुत्साचारपूर्ण शृङ्गार-काव्य का निर्माण हो रहा था, सेनापति उससे ऊपर उठे हुए हैं। उनके प्रकृतिवर्णन की स्वाभाविकता और सरसता तो सारे रीतिकाव्य में नहीं मिलेगी। षट्ऋतु वर्णन में अधिकांश कवि उद्दीपन भाव का निरूपण ही सामने रखते हैं। परंतु सेनापति ने प्रकृति के स्वतंत्र चित्र दिये हैं जिनमें काव्य-प्रसिद्धियों और कल्पना को भी उचित स्थान मिला है।

उन्नीसवीं शताब्दी के साथ राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बदलीं। देश मुसलमान शासकों के हाथ में से निकल कर अंग्रेज शासकों के हाथ में चला गया। बड़े-बड़े राज्य हड़प लिये गये। छोटे-छोटे राज्य और जागीरदार रह गये। कवियों के यही मात्र आश्रय थे।

इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हम हिंदी कविता में किसी प्रकार परिवर्तन नहीं पाते। हाँ, रीतिकालीन धारा का उसी प्रकार चलना देखते हैं। वैष्णव और संत-काव्य-धाराएँ ह्रासोन्मुख हैं। देश की हवा बदल गई। गद्य में बदली हुई परिस्थिति के

बनिये। कवियों का काम नायिकाओं से बिछुए बजवाना रह गया है। जीवन का रहस्य जैसे उन्हें वहीं मिल गया हो :—

सखिन के स्रुति में उकुति कल कोकिल की,
गुरुजन हूँ के पुनि लाज के कथान की
गोकुल अरुन चरनांबुज पै गुँज-पुँज
धुनि सी चढ़ति चंचरीक चरचान की
प्रीतम के स्रवन समीप ही जुगुति होति
मैन मंत्र-तंत्र के बरन गुनगान की
सौतिन के कानन मैं हालाहल ह्वै हलति
एरी सुखदानी तै बजनि बिछुवानि की

(गोकुलनाथ)

प्रकृति इन कवियों के लिए 'षटऋतु वर्णन' भर के लिए है। वे उद्दीपन से बाहर उसे देख ही नहीं पाते। शब्दों के घटाटोप में उसका रूप ही विकृत हो गया है। देखिये, यह बादल हैं :—

सजल रहत आप औरन को देत ताप
बदलत रूप और बसन बरेजे मैं
तापर मयूरन के झुंड मतवाले साले
मदन मरोरैं महाझरनि मरेजे मैं
कवि लछिराम रंग साँवरो सनेही पाय
अरज न मानैं हिय हरष हरेजे मैं
गरजि गरजि बिरहीन के बिदारैं उर
दरद न आवै धरे दामिनी करेजे मैं

(लछिराम भट्ट)

इस समय तक फ़ारसी शब्दों का बहुतायत से प्रयोग होने लगा था और कवि अपने अन्यतम ह्रास को पहुँच गये थे। कविता के क्षेत्र में कृत्रिमता का राज था। कल्पना की बागडोर

है न भाव के। पूरबी, गुजराती, पंजाबी, ब्रज, खड़ी सभी भाषाओं में ये रचना करते हैं। फ़ारसी के शब्दों के प्रयोग का बाहुल्य है। वास्तव में ग्वाल जिस राजदरबार में गये उसके शासक की भाषा में कविता कह सुनाई और पुरस्कार ले उड़े। कई भाषाओं का सफल प्रयोग चमत्कार का काम करता था। इस अर्द्ध शताब्दी में हम हिंदी कवियों को आश्रयदाताओं की खोज में देश-देश घूमते फिरते देखते हैं। इसीलिए उनकी काव्य-प्रतिभा ने स्वतन्त्रता, नवीनता और मौलिकता खो दी है। भाषा की शुद्धता की ओर भी कवियों का ध्यान नहीं। उर्दू कविता की लोकप्रियता का ब्रजभाषा पर भी प्रभाव पड़ा है। शब्दों का व्यायाम, श्लेष की भरमार, अनुप्रास की प्रधानता और भावों के हलकेपन को यदि कविता का नाम दिया जा सकता है तो यह भी कविताएँ रहेंगी। यह स्पष्ट है कि प्राचीन काव्य-परिपाटी, ब्रजभाषा की पुष्ट दशा और प्रचलित भावों को लेकर कवि कविता से खेल कर रहे हैं। उनमें न भावुकता का पता है न अनुभूति का। जो रीति आचार्य बनने का दावा रखते थे वह रस-परिपाक से कोई गरज़ न रख कर कूट लिख रहे हैं। प्रतापसाहि का एक पद है—

सीख सिखाई न मानति है बरही
बस संग सखीन के आवै
खेलत खेल नये जग में बिन
काम वृथा कत जाम बितावै
छाड़ि कै साथ सहेलिन को
कहि कै कहि कौन सवादहिँ पावै
कौन परी यह बानि अरी
नित नीरभरी गगरी ढरकावै

इसके अर्थ समझने के लिए पहले नायिकाभेद के पंडित

हौं तो बिन प्रान प्रान चाहत तजोई अब
कत नभ चन्द तू अकास चढ़ि आवै ना

(द्विजदेव)

बातन क्यों समुझात हो मोहि मैं तुमरो गुन जानत राधे
प्रीति भई गिरधारिन सों भई कुँज में रीति के कारन साधे
घूँघट ,नैन दुरावन चाहति दौरति सो दुरि ओट ह्वै आधे
नेह न गोयो रहै सखि लाज सों कैसे रहे जल जाल के बाँधे

(गिरिधरदास)

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में, जैसा हम लिख चुके हैं, रीति-काव्यधारा दूषित और पतनोन्मुख हो गई थी। मौलिकता का नाम नहीं था। भाषा की पुष्टता और परंपरागत भावों के सहारे काव्य उत्पन्न किया जाता था। नवीनता लाने के लिए फ़ारसी शब्दावली का प्रयोग और अनुप्रास का चमत्कार यथेष्ट समझा जाता। परन्तु इसी समय हमें कुछ ऐसे कवियों के भी दर्शन होते हैं जिन्होंने प्रेम के उसके प्रकृत रूप को समझा था और भाषा की चहल-पहल में न पड़कर प्रकृत रूप में ही अपने काव्य को उपस्थित किया। उन्हें न लक्षण-ग्रंथों से काम था, न रीति-आचार्यों के शास्त्रीय नियमों से। जो थोड़ी बहुत अनुभूति हमें पूर्वार्द्ध के काव्य में मिलती है वह यहीं मिलती है। ये ठाकुर थे। ठाकुर तीन हैं। इनमें से दो निःसन्देह उन्नसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध से संबंधित हैं। एक शायद पिछली शताब्दी में हुए। इनका काव्य परंपरागत शृंगार-काव्य से कुछ भिन्न पड़ता है।

वास्तव में प्रेम के प्रकृत रूप को सामने रखकर रचना करने वालों की एक परंपरा हमें रीतिकवियों के बीच में मिलती है। बोधा, घनानन्द, रसखान, आलम, ये सब अठारहवीं शताब्दी के कवि हैं। इन कवियों ने पहली बार यह प्रगट किया—

को अत्यंत स्वतंत्रता से छोड़ दिया जाता। अन्य भाषाओं के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग होता। अनुप्रास की प्रवृत्ति व्यापक रूप से प्रचार पा गई थी, यद्यपि रीति से कवि अब भी प्रभावित थे। पजनेस की कविताओं में ये प्रवृत्तियाँ हैं यद्यपि उन्होंने अन्य सामयिक रीति-कवियों के विरुद्ध परुषावृत्ति के भी सुन्दर प्रयोग किये हैं—

छहरै छबीली छटा छूटि छितिमंडल पै
उमँग उँजेरो महा ओज उजबक सी
कवि पजनेस कंज मंजुल मुखी के गात
उपमाधिकात कल कुंदन तबक सी
फैली दीपदीप दीप दीपति दिपति जाकी
दीपमालिका की रही दीपति दबकि सी
परत न ताब लखि मुख महताब जब
निकसी सिताब आफताब के भभक सी

युग की मूल प्रवृत्ति—कोमलता—के विरोध ने पजनेस को जन-साधारण में बड़ा लोकप्रिय कर दिया। अनेक स्थान पर शब्द-जाल और श्लेष के कारण कविता अत्यंत अस्पष्ट हो गई है। पूर्वार्द्ध के चतुर्थांब्द में हमारी दृष्टि द्विजदेव (महाराज मानसिंह) और बाबू हरिश्चंद के पिता गिरिधरदास पर पहुँचती है। इनकी कविताएँ भी सुन्दर व्रजभाषा में हैं, परन्तु कोई विशेषता नहीं :

घहरि घहरि घन सघन चहूँघा घोरि
छहरि छहरि विषबूँद बरसावै ना
द्विजदेव की सौं अब चूक मत पाँव अरे
पातकी पपीहा तू पिया की धुन गावै ना
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ ऐरे
पटकि मरिक मोर सोर तू मचावै ना

पर बीर मिले बिछुरै की बिथा
मिलिकै बिछुरै सोई जानतु है
(वही, ठाकुर २)

यह चारहूँ ओर उदौ मुखचंद की
चाँदनी चारु निहारि लै री
बलि जो पै अधीन भयो पिय प्यारो
तो एतौ बिचार बिचारि लै री
कवि ठाकुर चूकि गयो जु गोपाल तौ
तू बिगरी को सम्हारि लै री
अब रैहै न रैहै यहौ समयो
बहती नदी पाँव पखारि लै री
(ठाकुर बुन्देलखंडी)

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ
नेकौ सयानप बाँक नहीं
तहाँ साँचे चलैं तजि आपन पौ
झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं
धन आनन्द प्यारे सुजान सुनो
इत एकते दूसरो आँक नहीं
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला
मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं
(घनानंद)

भादौं की कारी अँध्यारी निसा
झुकि बादर मन्द फुही बरसावे
स्यामाजू आपनी ऊँची अटापै
छकी रसरीति मलारहि गावै
ता समै मोहन की दृग दूति ते
आतुर रूप की भीख यों पावै

यह प्रेम का पंथ करार महा
तरवार की धार पै धावनो है

और

लोक की लाज औ सोक प्रलोक को
वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ
(बोधा)

इन कवियों ने व्यंगार्थ पर वाच्यार्थ को प्रधानता दी। शब्दों को वे अधिक नहीं तोड़ते-मरोड़ते। उनके प्रयोग रस और शैली में घुल गये हैं। वे जैसे रीतिकाव्य की इस मरुभूमि में अमृत-निर्झर हैं—

बौर रसालन की चढ़ि डारन
कूकत कैलिया मौन गहै ना
ठाकुर कुंजन कुंजन गुँजत
भौरन भीर चुमैवो चहै ना
सीतल मंद सुगंधित बीर
समीर लगे तन धीर रहै ना
व्याकुल कीन्हों वसंत बनाय कै
जाय कै कंत सो कोऊ कहै ना
(असनी के ठाकुर)

लगी अंतर में करै बाहिर कौ
बिन जाहिर कोउ न मानतु है
दुख औ सुख हानि औ लाभ सबै
घर की कोऊ बाहर मानतु है
कवि ठाकुर आपनी चातुरी सों
सबही सब भाँति बखानतु है

देख्यो एक बारहूँ न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछतायँगी
विना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय
मुएहूँ पै आँखे ये खुली रह जायँगी
(हरिश्चन्द)

बगियान बसंत बसेरो कियो
बसिये तेहि लागि तपाइये ना
दिन कान कुतूहल के जे बने
तिन बीचि वियोग बुलाइये ना
'घन प्रेम' बढ़ाय कै प्रेम अहो
विथा वारि वृथा बरसाइये ना
इतै चैत की चाँदनी चाह भरी
चरचा चलिबै की चलाइये ना
(प्रेमघन)

बनि बैठी है मान की मूरति सी
मुख खोलत बोलै न 'नाहीं' न 'हाँ'
तुमहीं मनुहारि कै हारि परे
सखियान की कौन चलाई तहाँ
बरसा है 'प्रतापजू' धीर धरौ
अबलौं मन को समझायो जहाँ
यह ब्यारि तभी बदलेगी कछू
पपिहा जब पूछिहौ पीव कहाँ ?
(प्रतापनारायण मिश्र)

ऊपर रीति-काव्य की प्रेम और विलास की कविता पर जो विहंगम दृष्टि दौड़ाई गई है उससे यह स्पष्ट है कि रीति-कवियों में अधिक महत्त्वपूर्ण वे हैं जो एकदम लक्षण-ग्रंथों की रचना

पौन मया करि घूँघट टारै
दया कर दामिनि दीप दिखावै
(नागरीदास)

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रजभाषा में राधाकृष्ण को लेकर अथवा स्वतंत्र रूप से शृङ्गार-काव्य का निर्माण होता रहा। कवि भाषा और भावों के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती काव्य से परिचालित थे। इस समय काव्य में खड़ी बोली का भी प्रयोग हुआ। इस अर्धशतक भर यह झगड़ा होता रहा कि काव्य की भाषा ब्रजभाषा हो या खड़ी बोली। शताब्दी का अंत होते-होते यह झगड़ा खड़ी बोली के पक्ष में फ़ैसल हुआ, परन्तु इन ५० वर्षों में प्रधानता ब्रजभाषा काव्य की ही रही। बीसवीं शताब्दी के पहले वर्षों में भी ब्रजभाषा काव्य बनता रहा। अभी भी बनता जा रहा है। भाषा-भाव की दृष्टि से वह बहुत कुछ परंपरा से दूर भी जा पड़ा है। परन्तु नवीन उद्भावनाएँ उसमें कम मिलेंगी।

इस उत्तरार्द्ध के सबसे महान कवि हरिश्चंद हैं। इन्होंने रीति-शास्त्र और रीति-परिपाटी से मुक्त रह कर भी बहुत-सा काव्य लिखा, यद्यपि परिपाटीबद्ध काव्य भी कम नहीं है। हाँ, प्रेम के प्रकृत रूप को इन्होंने घनानंद-बोधा की तरह ही समझ लिया था। इनके अतिरिक्त इस उत्तरार्द्ध में बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास आदि ने शृंगार रस में सुन्दर रचनाएँ की :

इन दुखियान को न सुख सपनेहुँ मिल्यो
योंही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी
प्यारे हरिचंद जू की बीती जानि औधि जोपैं
जैहैं प्रान तऊ एतो संग ना समायँगी

निश्चित परिपाटी में बँध गया था, उसी तरह यह काव्य भी परिपाटी में बँधा हुआ था।

एक प्रकार से प्रेम और विलास का यह अधिकांश काव्य नागरिक था। उसके प्रकृति-वर्णन कल्पनामूलक और शास्त्र एवं साहित्य-प्रेरित थे। हाँ, बरवै और दोहों से कुछ-कुछ प्राकृत गाथाओं (गाहा छन्दों) के लेखकों के साहित्य और दृष्टि-कोण को अपनाने के कारण गाँव की प्रकृति और ग्रामीण प्रेम और नायिकाओं का चित्रण हुआ जो इस सारे साहित्य में वही स्थान रखता है जो मरुभूमि में अजस्र-स्रोतः जलप्रपात।



करने नहीं बैठे यद्यपि साहित्यशास्त्र उन्हें भी अलक्षित रूप से प्रभावित कर रहा था। इन कवियों के हम दो वर्ग कर सकते हैं। पहले वर्ग के कवियों (बिहारी, मतिराम आदि) पर साहित्यशास्त्र, कला और संस्कृत साहित्य का प्रभाव था, दूसरे वर्ग के कवियों में (जो उत्तरार्द्ध में आते हैं जैसे बोधा और घनानंद) अनुभूति की प्रधानता है और मौलिकता की मात्रा अधिक है।

रीति-काव्य की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर संस्कृत रीतिशास्त्र का प्रभाव तो था ही परन्तु इससे भी अधिक संस्कृत काव्य-परंपरा का। हमें उन्हीं कवि-प्रसिद्धियों और उपमा-अलंकारों के दर्शन होते हैं जो संस्कृत के परवर्ती काव्य में ग्रहण हुई थीं। नायिका के अंगों के उपमानों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। जहाँ कहीं फ़ारसी का प्रभाव लक्षित है, वहाँ भी वह परवर्ती कवियों के ढंग पर ग्रहण किया गया है। इस प्रकार इस काव्य की आत्मा संस्कृत के परवर्ती काव्य से बल पाती है। वह मूलतः भारतीय है, यद्यपि वासना और ऐश्वर्यमूलक। उसमें एक प्रकार से भक्ति-काव्य के प्रति प्रतिक्रिया भी है जो नैतिकता-प्रधान रोमांटिक (स्वच्छन्द) और पारलौकिक था। इसके विपरीत रीतिकाव्य नैतिक भावनाओं से हीन, क्लासिकल और ऐहिक (लौकिक) था, परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि इस प्रकार की कविताओं में उस समय की जनता की मूल मनोवृत्ति पाई जाती है। जहाँ तक कलाप्रियता की बात है, वहाँ तक तो यह ठीक है, परन्तु "शृङ्गार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।" जिस प्रकार राजा-महाराजा और मध्य वर्ग के पंडित या कायस्थ-समाज; का जीवन

सम्बन्ध है। जनता की धर्म-भावना, जनता का विश्वास, जनता की अंधश्रद्धा जैसे उनके काव्य में मूर्तिमान हो गई है। परन्तु बिहारी के काव्य के संवन्ध में यह नहीं कहा जा सकता।

१५५६ ई० में अकबर बादशाह देहली के सिंहासन पर बैठे। १५५६ ई० की पानीपत की लड़ाई में हीमू की हार हुई और एक केन्द्रीय शक्ति के स्वप्न का नाश हो गया जो अत्यन्त आशाजनक था। अकबर प्रारंभ काल में तो गृहविद्रोह में फँसा रहा। १५६२ ई० में उसने अजमेर की पहली तीर्थ-यात्रा की। १५६६ ई० में उसने बनारस पर आक्रमण किया और अगले वर्ष कड़ा मानिकपुर, इलाहाबाद और बनारस को लूटा और जौनपुर होता हुआ आगरा लौट आया। १५६८ ई० में चित्तौड़ परास्त हुआ। एक वर्ष बाद (१५६९ ई०) रणथम्भोर और कालिंजर विजित हुए और फतेहपुर सीकरी की नींव पड़ी। १५७० ई० में अकबर ने बीकानेर और जैसलमेर की राजपुत्रियों से विवाह किया। १५७४ ई० में उसने हाजीपुर को घेरा और दाऊद जंगल में भाग गया। इस प्रकार मानस-रचना (१५७४ ई०) तक भारत में मुग़लों का एक साम्राज्य स्थापित हो चुका था। जहाँगीर (१६०५-१६२७) और शाहजहाँ (१६२८-१६५९) का अधिकांश भाग कवि का समकालीन है। अन्यत्र हमने बिहारी के जन्म-मरण-संवतों (१६००—१६६७) पर विचार किया है। इस तुलना से स्पष्ट है कि कवि का रचनाकाल शाहजहाँ के शासनकाल (१६२८—१६५९) के समकालीन ठहरता है। इन तीन वर्षों की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों ने बिहारी को प्रभावित किया होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

राजनैतिक दृष्टि से इस समय मुग़ल साम्राज्य अपनी सर्वोच्च उन्नति के शिखर पर था। जहाँगीर के समय तक कुछ राजस्थानी क्षत्रिय-राजपूत राज्यों ने स्वाधीनता की पताका उड़ाये रखी थी,

परिशिष्ट तीन

विहारी के काव्य की पृष्ठभूमि

प्रत्येक कवि और साहित्यकार को समझने के लिए अनेक ढंग होते हैं। एक ढंग यह भी है कि हम उसके समय की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अवस्था, धर्म और संस्कृति, भाषा और साहित्य की परिस्थितियों का अध्ययन करें और अपने इस अध्ययन को कवि के काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में प्रयोग में लावें। इससे कवि के काव्य की अनेक गुत्थियाँ आप ही सुलझ जाती हैं और हम उसकी साहित्य-चेष्टा को युग की उथल-पुथल के बीच में से देख सकते हैं। तुलसी, सूर, केशव और विहारी का काव्य १५०० ई० से १६५० के लगभग डेढ़ शताब्दी तक चलता है। विहारी ने १६६२ ई० में 'सतसई' को समाप्त किया। 'मानस' का प्रणयन १५७४ ई० में हुआ। सूरसागर १५००-१५२५ ई० की रचना है। इस प्रकार इन तीनों काव्यों द्वारा हम मध्य युग की डेढ़ शताब्दी के जीवन को समझने का प्रयत्न करते हैं। किन अवस्थाओं ने, किन परिस्थितियों ने हमें ये तीन भिन्न-भिन्न श्रेणी के काव्य दिये। यह जानना मध्य युग की हिंदी साहित्य की वृहद्-त्रयी के अन्तराल तक पहुँचना है।

१—राजनीतिक अवस्था

विहारी-सतसई का मध्य युग की जनता से इतना संबंध नहीं है जितना राजकर्मी वर्ग से। 'सतसई' जयपुर के अधिष्ठाता महाराज जयसिंह (जयसाह) के यहाँ रहकर लिखी गई। सूरदास और तुलसीदास के काव्यों में हम मध्य युग के वैष्णव मन्दिरों की संस्कृति पाते हैं। मध्य युग की धर्मप्राण जनता से उनका सीधा

बस गये और थोड़े दिनों में एकदम हिन्दुस्तानी बन गये। हिन्दू राजकुमारियों से उन्होंने शादी-विवाह कर लिये और स्वयं राजपूत राजे उन्हें विदेशी नहीं मानते थे। जब इन नवागुन्तकों ने देखा कि भारतीय प्रजा के इस महासमुद्र में वे जलविन्दु की तरह है, तब अनेक क्षेत्रों में उन्होंने हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की और वे इसमें सफल भी हुए।

तैमूर के आक्रमण (१३६८ ई०) के बाद जौनपुर में एक मुसलमान राज्य स्थापित हुआ। १४७८ ई० तक यह दिल्ली से स्वतंत्र बना रहा और कई सहिष्णु मुसलमान शासकों ने हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों में समन्वय लाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। वास्तव में १४वीं और १५वीं शताब्दियों को हम हिंदू-मुसलिम समन्वय की शताब्दियाँ भी कह सकते हैं। तैमूर के हमले ने भारत की सांस्कृतिक कमजोरियों को उभाड़ कर दिखला दिया था। सारे उत्तर भारत में नए विचार, नए भाव नई मानवता की भावना का जन्म हुआ। विदेशी धर्म के निकट आने की चेष्टा हुई। अनेक ऐसे प्रचारक उत्पन्न हुए जिन्होंने वर्णाश्रम को लांछित बनाया और सांस्कृतिक समन्वय का उपदेश दिया। रामानंद (१३५० ई०) कबीर (१३९६-१५१६), रैदास, गुरु नानक (१४६६-१५४५) जैसे संतों ने एक नई सामान्य मानवभूमि तैयार की। तुलसीदास (१५३२-१६२३) मध्वन्द्र (१४८५), चैतन्य (१४८६-१५३३) और वल्लभ (१४७९-१५३१) के सनातन हिंदू धर्म के भीतर एक नई उदार जागरुकता को जन्म दिया। अकबर से शाहजहाँ तक (१५५६-१६५८) राजनैतिक, धार्मिक, दैनिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में यह समन्वय का प्रयत्न चलता रहा।

विहारी के काव्य में हम सांस्कृतिक समन्वय की झलक

परन्तु वे भी अन्ततः असफल रहे। इसीसे बिहारी के काव्य में राजनैतिक चेतना और राष्ट्रीय दर्प के स्वर नहीं बोलते। इस समय जो छोटे-छोटे स्वतंत्र, अस्वतंत्र अर्द्धस्वतंत्र देशी राज्य थे वे मुग़लों की सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन आदि की नकल कर रहे थे। वही ऐश्वर्य, वही अमीराना संस्कृति। बुद्धि-विलास, शृंगार और वासना, थोथी वीरता, चतुराई (लोक-व्यवहार या नीति) के दोहे-सवैये, अशिष्ट हास-परिहास इस राजकीय वातावरण की उपज थे।

२—सांस्कृतिक परिस्थिति

मुसलमान जब यहाँ आये, तब अपने साथ अरब की भाषा और संस्कृति भी लाये, परंतु इस भाषा और संस्कृति का सीधा प्रभाव इसलिए नहीं पड़ सका कि इसका विस्तार सिंध (७१२ ई०) और मुलतान (७१३ ई०) तक था। १०२३ ई० में लाहौर गजनी के राज्य में चला गया। इस प्रकार भारतवर्ष ईरान की समृद्ध भाषा, साहित्य, सभ्यता और संस्कृति के संपर्क में आया। ११९३ से १५२६ तक भिन्न-भिन्न अफ़गान और पठान शासक दिल्ली के सुलतान बने। वे सब ईरानी संस्कृति के झंडे ऊँचे करते रहे। परंतु इस सारे समय में दिल्ली के सुलतान की सत्ता दिल्ली और जगह-जगह फैली हुई लश्करी छावनियों तक ही सीमित थी। अतः ईरानी और भारतीय संस्कृति का पारस्परिक प्रभाव और आदान-प्रदान बहुत दूर तक आगे नहीं बढ़ा। वैसे ईरानी और भारतीय संस्कृतियों के समन्वय की नींव बहुत पहले पड़ चुकी थी। सच तो यह है कि अन्य विदेशी आक्रमणकारियों के विपरीत गजनी और कन्धार के ये अफ़गान बहुत कुछ भारतीय हैं। फिर ईरानी और भारतीय संस्कृति में भी कुछ अधिक अंतर नहीं था। ये अफ़गान और तुर्क भारत में, आकर

ध्रुवपद गायकी की याद दिलाती है। वास्तव में इस समय कला का प्रत्येक क्षेत्र विलास के बढ़ाने में अपनी उपयोगिता दिखाने लगा था। राजाओं, नवाबों और सामंतों की विलासिता ने नई कलाओं की सृष्टि की थी। जल-क्रीड़ा, शतरंज, पोलो, शिकार, उद्यान, द्यूत, पतंगबाजी, कबूतरबाजी, बाजबाजी कुछ ऐसे मध्ययुगीन आमोद-प्रमोद के साधन हैं जो धनी वर्ग में लोकप्रिय थे। खंभों, छतों और दीवारों के अलंकृत करने में जंगम और स्थावर रत्नों का व्यय दिल खोलकर किया जाता था। इन राजाओं, नवाबों और सामंतों की कला का प्रधान उद्देश्य होता था कामोद्दीपन। वस्तुतः जिस वर्ग में 'सतसई' की कविता लोकप्रिय हुई उसके जीवन का आदर्श था—खाओ, पिओ और मौज करो। धर्म, दर्शन, और अन्य प्रसंग बुद्धि-विलास और मन-बहलाव की चीज मात्र थे। संगीत और नृत्य साधु-संतों और वेश्याओं तक ही सीमित रह गया था। प्रतिदिन के जीवन में उसका कोई स्थान नहीं रह गया था। इसी से बिहारी के काव्य में धर्म, दर्शन, वैद्यक आदि शृङ्गार की पृष्ठ-भूमि लिये आते हैं। सारे लोकज्ञान, सारे शास्त्रज्ञान, सारे कल्पना-माधुर्य को प्रेम और विलास के चरणों पर डाल दिया गया है।

यह हम पहले बता चुके हैं कि बिहारी-सतसई के आदर्श गाथा-सप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरुकशतक, जयदेव और सूरदास थे। मुख्यतः पहले तीन। गाथासप्तशती पहली शती ईसवी की रचना है, परंतु राज-दरबार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आर्या, शतक और जयदेव बारहवीं शताब्दी के सेन राजवंश के आश्रय में लिखी कविताएँ हैं। वे उस संस्कृत मुक्तक काव्य की परंपरा में आती हैं जिनकी रचना श्रीहर्ष (६०७-६५७ ई०) से लेकर मुंज और भोज (९वीं शताब्दी) के समय तक के

स्पष्टतः दिखलाई पड़ती है। अनेक दोहों में संतों और भक्तों की उदार विचारावली का प्रभाव है। परंतु बिहारी का काव्य मुख्यतः उस समन्वय का दर्पण है जो हिन्दू-मुसलमान राज-दरबारों में चल रहा था। ईरानी भाषा, ईरानी भाव. ईरानी उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ, प्रेम और विलास के नये ईरानी ढंग बिहारी के काव्य में प्रतिफलित हैं। नायक पतंग उड़ाता है तो नायिका शीतलता पाने के लिए उसकी छाया के साथ लगी फिरती है। प्रेमिका की प्रिय-वियोगजन्य कृशता इतनी बढ़ गई है कि मृत्यु भी उसे ढूँढ़ नहीं पाती—आँखों पर चश्मा लगा कर भी। इस प्रकार की कितनी ही सूक्तियाँ ईरानी कविता का प्रभाव सूचित करती हैं। हिन्दू समाज के ऊपर के वर्ग में ईरान भाव किस तेजी से फैल रहे थे, बिहारी का काव्य इसका प्रमाण है।

बिहारी के युग (१६००-१६७५) की संस्कृति का अध्ययन करने के लिए उस युग की चित्रकला, वास्तुकला, संगीत और साहित्य को समझना भी आवश्यक है। अकबर के समय से ईरानी और भारतीय कला-प्रतीकों का जो समन्वय आरंभ हुआ था, वह शाहजहाँ के समय में सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचा। आगरे का ताजमहल जिस कला का प्रतीक है, उसी कला का साहित्यिक स्वरूप हमें बिहारी-सतसई में मिलता है। थोड़े में बहुत कहना (समास-पद्धति), छोटे-छोटे चित्रों की सावधान-पूर्ण नक़्क़ाशी (miniature paniting) अलंकृत सज्जा, कला का कौशल रूप—ये बातें ताजमहल और 'सतसई' में सामान्य रूप से पाई जाती हैं। हमारे सारे साहित्य में कला का इतना साफ़-सुथरा, इतना सँवारा रूप कहीं नहीं मिलेगा। इसके विपरीत हमारे साहित्य में सूरदास और तुलसीदास की विराट् निश्छलता मिलती है जो हमें हरिदास और तानसेन की

मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश में धनधान्य की कमी नहीं थी। परंतु इस महान् संपत्ति को भोगने वाले लोग इने-गिने थे, इसमें भी सन्देह नहीं। दिल्ली-सम्राट, प्रादेशिक गवर्नर और देशी राज्य इस संपत्ति के सबसे अधिक भाग को अपनी मौज और आराम के लिए खर्च करते थे। उनके विलास की कोई सीमा नहीं थी। इटालियन यात्री निकोलो मुनकि ने १६५६ ई०—१७०१ ई० तक भारतवर्ष का विस्तृत अध्ययन किया। 'स्टोरिया' नाम की अपनी यात्रा-पुस्तक में उसने मुग़ल-राजमहलों के जीवन का विशद वर्णन किया है। वह लिखता है—"राजमहल का खर्चा एक करोड़ से कम न होता था। यद्यपि इस खर्चे में सरापा और उन खिलअतों का व्यय भी शामिल था जिन्हें बादशाह अपने सेनापतियों और उच्चाधिकारियों को दिया करता था। इतना खर्च होने का एक प्रमुख कारण इत्र और सुगंधित तैलों का प्रचुर मात्रा में इस्तेमाल किया जाना भी था। पान के ऊपर भी बहुत व्यय होता था। इसके अलावा जवाहरातों और आभूषणों पर भी बहुत व्यय किया जाता था। गहने आदि इतने बनते थे कि सुनारों का काम रात-दिन चालू ही रहता था। सबसे बहुमूल्य और बेशक़ीमती आभूषण बेगमों और शाहज़ादियों के हुआ करते थे।" "उनके गहनों में सभी प्रकार के बहुमूल्य पत्थर वा मोती आदि देखने को मिल सकते थे। उनके आभूषणों के मोती और लाल फलों के आकार तक के होते थे। बेगमें और शाहज़ादियाँ लालों को छेदकर और मुक्ता की तरह कड़ियों में पिरोकर पहना करती थीं। दोनों बाहों पर लालों की मालाएँ पहनी जाती थीं। लालों के साथ मुक्ता की तीन लड़ियाँ भी पिरो ली जाती थीं।" "बेगमों और शाहज़ादियों की पोशाक बहुत ही बेशक़ीमती तथा अतीव सुन्दर और गुलाब के फूलों के इत्र से सुरभित हुआ करती थी।"

उन अनेक हिन्दू राजदरबारों में हुई जो कवियों का एकमात्र आश्रय हो गये थे। वास्तव में मुग़लकाल में राज्याश्रयों की सांस्कृतिक परिस्थिति वही थी जो सिद्ध-सामंत युग के राजाश्रयों की थी। अतः एक सी परिस्थिति के कारण लेखकों और कवियों का ध्यान इस युग की संस्कृत और अपभ्रंश की मुक्तक कविता की ओर जाना अनिवार्य था। एक प्रकार से १६०० ई० से १८०० ई० तक के रीतिकाल में सिद्ध-सामंत युग के राज्याश्रयों की संस्कृत कविताओं की पुनरुक्ति ही हुई, केवल भाषा ही बदली थी, और सूरदास, विद्यापति और जयदेव के काव्य के कुछ प्रभाव भी ग्रहण कर लिये गये थे। जब हम रीतिकाव्य, विशेषतः बिहारी, की कविता की बात सोचते हैं तो हमें यह समझ लेना चाहिये कि यह कविता जनता की कविता नहीं थी। सामंतों, धनी-मानी वर्गों अमीर गृहस्थों की कविता थी और इसे हम जनता का प्रतिनिधि काव्य नहीं कह सकते। इसमें जिस संस्कृति का हमें चित्र मिलता है उसे हम सामंती (Feudal) संस्कृति कह सकते हैं। इसमें साधारण नायक-नायिका को राधा-कृष्ण के रूप में उपस्थित किया गया है तो यह पिछले दिनों के धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव है। विद्यापति और जयदेव ने जैसे रीति (शृंगार) लिखने के लिए कृष्ण-कथा का आश्रय लिया था, वही बात इस बार भी थी।

३—आर्थिक और सामाजिक अवस्था

इस समय भारत समृद्ध था। मुग़ल-राज्य के ऐश्वर्य की कहानियाँ यूरप में गूँज रही थीं। जहाँगीर ने सोने का घंटा लगवा कर जिस न्यायप्रियता की घोषणा की थी उसे सुनकर हम सहसा कह उठेंगे—"वह वस्तुतः राम-राज्य था।" आज की आर्थिक संपदा के आँकड़ों को उस युग की संपदा के आँकड़ों से

दुर्व्यवस्थाओं से देश घिरा हुआ है। उस युग की सामंती महत्ता केवल ऊपरी सज्जा मात्र है। इस पृष्ठभूमि में बिहारी का काव्य उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहता जितना कबीर, तुलसी या सूरदास का काव्य।

राजे-महाराजे और सामंत देश की सम्पत्ति के प्रधान भोक्ता थे, यह हम कह चुके हैं। परन्तु राजदरबारों से संबन्धित कलाकार, कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, मूर्तिकार, विदूषक, चापलूस, मसखरे आदि भी इस परिश्रम से अर्जित सम्पत्ति का एक बड़ा भाग स्वाहा कर डालते थे। इनके बाद उन पुरोहितों और महन्तों का स्थान था जो भारत के अनेक धर्मों, सम्प्रदायों और मठों से सम्बन्धित थे। बिहारी के समय तक संतों, मठाधीशों, साधुओं और महन्तों के बड़े-बड़े अखाड़े स्थापित हो चुके थे। राजा-महाराजा जैसा इनका ठाठ होता। अनेक संगीतज्ञ, कवि, व्यापारी, चाकर आदि इनके साथ रहते। सातवीं शताब्दी में जिस प्रकार वासुदेव, शिव (सोमनाथ), तारा, अवलोकितेश्वर आदि के मन्दिरों में सोना, रत्न, जवाहर भरे पड़े थे, उसी प्रकार अकबर के समय में एक बार फिर साधारण जनता की श्रद्धा मन्दिरों और मठों की ओर मुड़ी और उन्हें अपार धन से भरती गई। देश की सम्पत्ति का एक बड़ा भाग इन देवालयों, मठों और आश्रमों में चला जाता। उस समय धार्मिक मठों और मन्दिरों में देश की सम्पत्ति को खर्च करने में बहुत उदारता दिखलाई जाती थी।

इनके बाद वे सेठ-साहूकार आते हैं जिनके सार्थ जयपुर, मथुरा, मुलतान, लाहौर, प्रयाग, और काशी के बीच चला करते। 'वार्ताओं' में इस श्रेणी का बहुत सफल चित्रण मिलता है। देश का सारा व्यापार हिन्दू व्यापारियों के हाथ में था और

"सोते समय भी शाहजादियाँ इन्हीं वस्त्रों को पहिने रहती थीं। सुबह उठकर दुबारा फिर कभी इन वस्त्रों को नहीं पहना जाता जाता था। रात के पहिने वस्त्र नौकरों को बाँट दिये जाते थे।"

शहंशाह और उसके हरम पर जितना खर्च होता उससे कुछ ही कम शाहजादा और उसके हरम पर होता। फिर अमीर-उमर और अहलकार थे। इनका जीवन भी अपने मालिकों के अनुकरण में इसी तरह चला करता। संक्षेप में, उस समय देश की अपार सम्पत्ति शासक वर्ग, सामंतों, राजाओं और जागीर-दारों द्वारा पानी की तरह बहाई जाती। हिन्दू राजाओं का जीवन भी इसी विलासिता में बीत रहा था।

परंतु इसके विपरीत मुनक्कि साधारण समाज का वर्णन इस प्रकार करता है—"ग़रीबों और मज़दूरों तथा सिपाही आदि निम्नवर्ग के लोगों की पोशाक बहुत मामूली होती थी। इन लोगों के सिर पर एक साधारण कपड़ा लपेटा रहता था, और कमर पर डोरी के सहारे एक छोटा तौलिया के बराबर का कपड़ा लटका होता था—यानी लँगोटी होती थी। बदन पर भी एक छोटासा कपड़ा बँधा होता था, जो दिन में वस्त्र और रात में ओढ़ने का काम देता था। उनके पास लेटने के लिए चटाइयाँ न होती थी।" मुनक्कि के इस वर्णन से स्पष्ट है कि मुगलकाल की साधारण जनता किस घृणित और ग़रीब अवस्था में थी। उपसहार में यही लेखक देश की उस काल की दुर्दशा, अकाल और महामारियों के सम्बन्ध में भी विस्तारपूर्वक लिखता है। मुनक्कि ने १७वीं और १८वीं सदी के प्रारंभिक युग का जो विस्तृत विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि उस समय का भारत हर दृष्टि से—राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से— काफ़ी गिर चुका था। अनेक प्रकार की

मुग़ल काल को रामराज्य माना जाय वह कोई बात नहीं हुई। परन्तु देश की संस्कृति डॉवाडोल थी, यह भी साफ़ बात है।

४—धार्मिक अवस्था

१६०० ई० तक अष्टछाप के प्रमुख कवियों सूरदास और नन्ददास का सारा साहित्य जनता के सामने आ गया था। बिहारी के सामने यह काव्य अवश्य था, ऐसा कुछ दोहों के अध्ययन से जान पड़ता है परन्तु मन्दिरों द्वारा साधारण जनता चाहे धर्मान्दोलनों से किसी प्रकार प्रभावित हुई हो, हमारे कवियों के आश्रयदाता और हमारे कवि उन पर विश्वास नहीं रखते थे। पूर्वी क्षेत्र में राम-सीता की पूजा-उपासना चलती थी, परन्तु सामूहिक रूप में प्रार्थना-उपासना करना कठिन बात थी। धर्म अधिकांश वैयक्तिक संस्था-मात्र था।

वास्तव में १४०० ई० से १६०० ई० तक हिन्दी प्रदेश में अनेक धार्मिक आन्दोलन चले थे रामभक्ति, कृष्णभक्ति, हनुमानभक्ति, निर्गुणभक्ति, सूफियों की अनलहक की साधना इत्यादि अनेक प्रकार की भक्ति-भावनाएँ जनता को आन्दोलित कर रही थीं। रीतिकाल का उदय जिस समय हुआ उस समय ये धार्मिक धाराएँ पूर्ण बल से चल रही थीं। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि धार्मिक धाराओं में शिथिलता आने पर राधा-कृष्ण के प्रतीक शिथिल पड़ गये और उनके अलौकिक प्रेम-चरित्र ने सामान्य मानव-प्रेम-भावना का रूप ग्रहण कर लिया। १७वीं शताब्दी के अंत होते-होते धार्मिक क्षेत्र में माधुर्य के स्थान पर ऐश्वर्य (शक्तिपूजा) की प्रधानता हो गई थी और सतनामी, सिख और मरहठों के वारकरी सम्प्रदायों ने जन्म ले लिया। यह औरङ्गजेब के हिन्दुओं पर किये अत्याचारों की प्रतिक्रिया मात्र थीं। परन्तु बिहारी के युग में धार्मिक आन्दोलन उसी प्रबलता से

उन्होंने अपनी कोठियों और आढ़तों का जाल दूर-दूर तक फैला लिया था। साधारण जनता में किसान, कमकर और कारीगर आते हैं। इनमें कारीगर अवश्य कुछ सम्पन्न थे। कला की चीज़ें कला-पारखियों और सामन्तों के हाथ ऊँचे दामों में विक जाती थीं परन्तु अधिकांश जनता का जीवन आनन्द का जीवन नहीं कहा जा सकता था। युद्ध, अकाल और महामारी इस युग में भी हाहाकार मचा जाते थे। जहाँगीर के समय (१६३० ई०) में दक्षिणी भारत और गुजरात में एक महान अकाल पड़ा था जिसने मनुष्य को पशु बना दिया था। वास्तव में इस समय के दुर्भिक्षों की तालिका बड़ी लम्बी है। १५५४-५६ (दिल्ली, आगरा, हिन्द का पश्चिमी प्रदेश), १५७३ ई० (गुजरात), १५८३-८४ (मध्य हिन्दुस्तान), और १५९१-९८ (मध्य हिन्दी प्रदेश) ये सब मूल रूप से अनावृष्टि के कारण थे और इनके साथ बीमारियों का बड़ा लम्बा चक्र चलता। १५८४-८६ ई० में बङ्गाल में भयानक हड़ताल आई जिसमें दो लाख मनुष्य हत हुए। १६१६-१६२४ तक उत्तर भारत में प्लेग का ज़ोर रहा।

परन्तु इस युग के कवि इस यातना पर चुप हैं। वे कहीं 'अलख' जगाते हैं, कहीं सगुण निर्गुण की गुत्थियाँ समझाते हैं। कहीं प्रेम के कामबन्ध खोलते हैं। लाखों करोड़ों दीन-दुखियों के स्वर उनके साथ में मिल गये। संक्षेप में छोटे-छोटे समाज और राष्ट्र की शक्ति जाती रही थी। यातना, अपमान, निरादर प्रतिदिन की चीज़ें थीं। भक्त कवि

'संतन को कहा सीकरी को काम'

कहकर बन्धन मुक्त है, परन्तु जिस कवि को राजदरबार में रहना है, वह तो इन्हें किसी तरह निभायेगा ही। आज चाहे

में नहीं आये, तो चिंता की कोई बात नहीं। वह समझ लेगा, यह उसकी भक्ति-साधना मात्र है, "राधा-माधव-सुमिरन को बहानो है"। इसी द्वैध-व्यक्तित्व द्वारा रचे जाने के कारण रीतिकाव्य आलंबन (काव्य-विषय) की दृष्टि से थोड़ी उलझन पैदा कर देता है। जो सामने है, वह मूल रूप में क्या है, कवि-कला या भक्त की साधना ? जो आलोचक इस युग के सामन्तों की छाया में रहने वाले कवियों के द्वैत व्यक्तित्व की बात जानता है, उसके लिए यह काई बड़ी समस्या नहीं है।

५—साहित्यिक अवस्था

इस समय कविता और साहित्य में कृत्रिमता और कल्पना की प्रधानता थी। राजदरबारों में फ़ारसी कवियों की भरमार थी और ईरानी संस्कृति में पली फ़ारसी कविता जहाँ अमीर को विलास का स्वाद चखाती थी, वहाँ साधारण जनता को सूफ़ी रहस्यवाद के चक्कर में डाल देती थी। विन्सेन्ट स्मिथ ने इस युग के लेखकों से क्षमा माँगते हुए यह बात कही है। वे कहते हैं—

"Most of the authors prostitute the word (love) to the service of unholy passions." "The triviality and unpurity of most of the versifiers in Persian".

यह बात अक्षर-अक्षर ठीक है। इस युग के सारे काव्य में पद-पद पर कृत्रिमता विलासिता, आचार-हीनता और जड़ प्रतीकों का प्रकाश है। विशेष अध्ययन के लिए History of Persian Language at the Mogul Court Vols. I, II III—M. A. Ghani देखना उपादेय होगा। विजेता मुसलमानों और मुग़लों के मनोविकारों को समझने के लिये मध्ययुग के फ़ारसी साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है।

चल रहा था जिस प्रबलता से सूरदास और तुलसीदास के समय में।

जिन रीति-कवियों में बिहारी को प्रमुख स्थान मिला है, वह अपने समय के धार्मिक आन्दोलन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकें। केशवदास और बिहारी दोनों के काव्य में राधा-कन्हाई का नाम बारबार आता है। वे सामान्य नायक-नायिका के रूप में भले ही चित्रित किये गये हों इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि युग की धार्मिक मान्यता के विपरीत नहीं जाता। मंगलाचरण में बिहारी कहते है—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ
जा तन की झाँई परै श्याम हरित दुति होइ

अनेक अन्य दोहों में उन्होंने कृष्ण-कथा से परिचित होने का इंगित दिया। उनके भक्ति परक दोहे भी कम नहीं हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी का शृङ्गार मूलक काव्य भी भक्ति की नींव पर खड़ा होने की चेष्टा करता है। यह दूसरी बात है कि वह इसमें सफल नहीं हो सकता।

उस युग के सामान्य हिन्दू का आज तीन शताब्दियों बाद समझना असंभव है। उस युग का रसिक भक्त, कवि, सहृदय, व्यावहारिक (लोक-व्यवहार-चतुर) पुरुष होता था। भक्ति उसके व्यक्तित्व का एक अंश मात्र थी। महत्त्वपूर्ण अंग भी नहीं। जिस रसिक सहृदय को लक्ष्य बनाकर बिहारी ने कविता लिखी है उसके लिए रसिकता, काव्य-मर्मज्ञता, कला-वैदग्ध्य पहली चीज़ें थीं। भक्ति बाद की चीज़ थी। सहृदय यदि उसकी रचना को कविता समझ लें तो यह उसके लिए मान की बात होगी। यदि उसकी कविता सहृदयों की दृष्टि में कविता-श्रेणी

कृष्ण-काव्य की इस द्वैध परिस्थिति को स्पष्ट कर
इस 'विलास-कला' को रीति और शृंगार के अर्थ में
होगा।

जैसे-जैसे यह धार्मिक भाव कम होता गया, वैसे
काव्य का शृंगार और कला का भाव उभरता गया। रीति
का एक प्रधान अंग अलंकार और नायिकाभेद का विवेचन
सूरदास की साहित्य लहरी (१५०० ई०) में अलकार-निरूप
एवं नायिका-भेद के भी कुछ पद हैं। नन्ददास की विरह-मंजर
जैसी रचनाएँ परवर्ती काव्य की ही भूमिका समझी जा सकती हैं।
१६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही एक वर्ग ऐसा था जो रीतिकाव्य
की भूमिका उपस्थित कर रहा था। 'हिततरंगिणी' (कृपाराम),
शृङ्गारसागर (मोहनलाल मिश्र), अलंकार चंद्रिका (गोप)
और केशव के बड़े भाई का 'नखशिख' रीतिकाव्य की तीन
दिशाएँ (रसनिरूपण, अलंकारनिरूपण, नखशिख) बतलाता
है। शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह प्रवृत्ति राजकवियों, राजाश्रित
कवियों और रसिक पंडितों में विशेष रूप से विकसित हुई होगी।
१५९१ ई० में हमें केशव की अत्यन्त प्रौढ़ और प्रभावशाली
रचना 'रसिकप्रिया' के दर्शन होते हैं और दस वर्ष बाद (१६०१
ई०) हम उन्हें छंदशास्त्र, कवि-प्रसिद्धि, अलंकार का महाकोष
(कविप्रिया) लिखते देखते हैं। केशव की ये रचनाएँ एक कवि
वर्ग में आदर्श मान ली गईं और उन्होंने युगधर्म को विशेष
रूप से प्रभावित किया। स्वतंत्र रूप से रस, छंद, अलंकार
आदि पर लिखने की परिपाटी चल गई। रीतिकाल का अधिकांश
काव्य इसी परिपाटी को निभाने के बहाने क्षेत्र में आया।
सत्रहवीं शताब्दी के तीसरे दशाब्द में बिहारी का कविताकाल
आरम्भ होता है। इस तरह हम १५५०-१६०० ई० के काल को

स्वयं हिंदी साहित्य में जो श्रृङ्गार की धारा विद्यापति के समय (१४वीं शताब्दी) से चली आती थी वही धीरे-धीरे विशेषत्व प्राप्त कर रही थी। बिहारी के समय को हमने रीतिकाल कहा है। रीतिकाल से हमारा तात्पर्य उत्तर मध्य युग से है जिसका समय १६०० ई० से १८०० ई० तक कहा जा सकता है। सूरदास का काव्य १५२५ ई० से १५५० ई० तक लिखा गया होगा। १५७४ ई० में तुलसी ने रामचरितमानस की रचना की। तुलसीदास के काव्य पर श्रृङ्गार-भावना और रीति-कला का प्रभाव कहीं-कहीं साफ़ दिखलाई पड़ता है, यद्यपि उन्होंने युग से ऊपर उठकर एक अत्यन्त संयमित वातावरण में काव्य-निर्माण की चेष्टा की। रीतिकाल के प्रारंभिक प्रसिद्ध कवि केशव और बिहारी हैं। केशव के ग्रंथों का रचनाकाल हमें उनकी पुस्तकों में ही मिल जाता है। रामचन्द्रिका और कवि-प्रिया (१६०१ ई०), रसिकप्रिया (१५९१ ई०)। बिहारी का रचनाकाल १६२८ ई०—१६६८ ई० है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि १६वीं शताब्दी के अन्त से हम हिन्दी कविता में एक नया वातावरण पाते हैं। सच तो यह है कि श्रृंगार, विलास, कल्पना और कला का जन्म विद्यापति (कविताकाल—१४००-१४२५ ई०) से ही हो गया था। सूरदास ने एक शताब्दी बाद इस काव्यधारा को भक्ति-काव्य का रूप दे दिया। वास्तव में भक्ति-काव्य के दो रूप हैं—एक भक्ति, दूसरा श्रृङ्गार और कला। श्रृंगार और कला के सर्वोच्च शिखर पर उठकर भी कवि का धार्मिक भाव उसकी कविता को भक्ति-काव्य का रूप दे देता है। जयदेव का पद—

'यदि हरिस्मरणं सरसं मनो
यदि विलास कलासु कुतूहलम्'

साहित्य की ऐसी पुस्तकों को अपनाया जो साहित्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से पीछे पड़ गई थीं।

कदाचित् केशव की इसी अति प्राचीनवादिता के कारण ही उनके बाद रीति-ग्रंथ रचने की परिपाटी नहीं पड़ी—सब लोग उन प्राचीन ग्रन्थों से परिचित भी नहीं थे। परिपाटी आधी शताब्दी के बाद चली और उसने परवर्ती संस्कृत आचार्यों का आश्रय लिया। अलंकार-ग्रंथों का प्रणयन चंद्रालोक और कुवलयानंद के अनुकरण में हुआ और काव्य के रूप के संबंध में रस को प्रधान मानने वाले ग्रंथों "काव्यप्रकाश" और "साहित्य दर्पण" को आदर्श बनाया गया। रीति-ग्रन्थ-प्रणयन की यह अखंड परंपरा चिंतामणि त्रिपाठी से आरंभ होती है जिन्होंने १६०३ ई० के लगभग काव्यविवेक, कविकुलकल्पतरु, काव्य-प्रकाश जैसे ग्रन्थ लिखे और छन्दशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। इस परंपरा के कवि एक दोहे में लक्षण लिखते हैं और कवित्त या सवैये में उसका उदाहरण देते हैं। इस प्रकार एक दोहे में लक्षण स्पष्ट नहीं हो सकता था, उसमें विवेचन के लिए स्थान नहीं था। इसके लिए गद्य ही उपयुक्त होता। परन्तु गद्य विशेष प्रयोग में नहीं आ रहा था। दूसरी बात यह है कि आचार्यत्व का ढोंग रखने वाले इन कवियों में न इतनी विद्वत्ता थी जितनी संस्कृत कवियों और आचार्यों में, न सूक्ष्म पर्यालोचन-शक्ति। इन्होंने संस्कृत रीतिशास्त्र को किसी तरह आगे नहीं बढ़ाया। लक्षण-ग्रन्थ लिखना बहाना मात्र था। उद्देश्य कविता था। एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण लिखकर कवि आगे बढ़ जाता था। कभी-कभी उसका उदाहरणलक्षण से मेल भी नहीं खाता था। कुछ अलंकारों के भेद न समझने के कारण भी गड़बड़ी थी और प्रायः संस्कृत कवियों और आचार्यों के भेद इसलिए

संक्रांति काल मानकर आगे के समय (१९००-१८००) को एक स्वतन्त्र काल कहा गया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि केशव रीतिकाल की कविता (१५५०-१८५०) के प्रवर्तक हैं और एक विशेष काव्य-परिपाटी के सूत्रधार होने के कारण उनकी महत्ता बढ़ जाती है। हिंदी काव्य-संसार में जिस रीति-कवि की ओर हमारी दृष्टि सबसे पहले पड़ती है वे महाकवि केशवदास ही हैं। रीतिकाल के कवियों में वे अग्रगण्य हैं। उनकी महत्ता यह है कि उन्होंने पहली बार हिंदी साहित्य को संस्कृत साहित्य के सभी काव्यांगों का परिचय करा दिया। केशव भक्ति-काल और रीति काल की संधि पर खड़े हैं, इसलिए उन्हें भक्ति विषयक कथानक पर भी लिखते देखते हैं (रामचंद्रिका, १६०१), परन्तु उनके पांडित्य और उनकी रीतिकालीन प्रवृत्ति ने भक्ति का गला घोंट दिया है। उनके प्रतिनिधि ग्रंथ रसिक प्रिया (शृगांर रस-संबंधी) और कविप्रिया (कविज्ञान और अलंकार-संबंधी) हैं। यही पुस्तकें हमारे सामने उनके प्रकृत रूप को रखती हैं। रस और अलंकार ग्रन्थों का प्रणयन १५४१ ई० (हिततरंगिणी, कृपाराम) से ही आरंभ हो गया था, परंतु ये प्रयत्न संस्कृत साहित्य-शास्त्र से बहुत अधिक प्रभावित नहीं थे, न उस समय इस प्रकार की कोई परिपाटी खड़ी हुई थी जैसा बाद में हुआ। इनमें से किसी ने काव्यांगों का पूरा परिचय भी नहीं कराया था। अधिकांश कवि आचार्य रसवादी थे। केशव ने मम्मट, उद्भट और और दंडी जैसे प्राचीन आचार्यों का अनुकरण किया जो रस, रीति आदि को अलंकार मान लेते थे। उनकी प्रकृति को स्वयं चमत्कार प्रिय था और इसीसे उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र के विकासक्रम की ओर दृष्टिपात नहीं किया। उन्होंने संस्कृत

इस सूची से हमें मध्ययुग की प्रवृत्तियों का भी परिचय मिलता है। इस समय गौण धाराएँ थीं भक्ति, नीति, वीरकाव्य (प्रशस्ति काव्य), कथा-प्रेम, प्रकृति। अधिकांश तो उद्दीपन के रूप में ग्रहण हुई, अनुभूतिपूर्ण प्रकृति-वर्णन हमें 'सेनापति' के काव्य में ही मिलते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश रीति-काव्य उन कवियों द्वारा रचा गया जो राजाश्रय में रहते थे, या स्वतन्त्र रह कर भी राजाश्रयप्राप्त करना अपना ध्येय समझते थे। राजपंडित और राजकवि के रूप में सम्मान प्राप्त करना ही उस समय कवियों का लक्ष्य हो गया था। हमारे देश में पंडित और कवियों को सदैव ही राजाश्रय प्राप्त रहा है। ११९१ की तराई की पराजय के बाद राजनैतिक सत्ता मुसलमानों के हाथ में चली गई और अकबर के सिंहासनारूढ़ होने तक (१५५६ ई०) हम मुसलिम राजाश्रय में न अधिक काव्य-प्रेम पाते हैं, न हिंदी के कवि ही राजदरबार से सम्बन्धित हैं। तराई की लड़ाई के बाद हमारी कविता विशेषतया धार्मिक रही। उसके केन्द्र थे मंदिर, संतपीठ या संतगृहस्थों के घर। गोरखनाथ, कबीर, दादू, तुलसीदास की कविताएँ जनता के लिये लिखी गईं। प्राकृत जन-गान की प्रथा तुलसी के समय में इतनी प्रधानता पा गई थी कि तुलसी को १६७४ ई० में रामचरितमानस लिखते समय कहना पड़ा—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना

तराई-युद्ध के बाद हिंदू राजाश्रय की काव्य-परम्परा राजपूताना मिथिला और मध्य भारत के हिंदू राज्यों तक ही सीमित रही। मैथिल के राजाश्रय ने कृष्ण-काव्य को जन्म दिया। इस

भिन्न भी हो गये हैं। परन्तु विभिन्नता का कारण कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था।

रीति-काव्य के कवियों में एक दूसरा वर्ग ऐसे कवियों का था जो एकदम लक्षण-ग्रंथों की रचना करने नहीं बैठे, परन्तु साहित्याकाश उन्हें भी अलक्षित रूप से प्रभावित कर रहा था। ऐसे कवियों की रचनाएँ तुलना करने पर पहले कवियों की रचनाओं से अधिक सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण ठहरती हैं। इस वर्ग के हम दो भाग कर सकते हैं। पहले वर्ग के कवियों (विहारी, मतिराम आदि) पर साहित्यशास्त्र, कला और संस्कृत साहित्य का प्रभाव था, दूसरे वर्ग के कवियों में (जो उत्तरार्द्ध में आते हैं जैसे बोधा, घनानन्द) अनुभूति की प्रधानता थी और मौलिकता की मात्रा अधिक थी।

इस प्रकार हम रीतिकाव्य की कई श्रेणियाँ कर सकते हैं :

१—लक्षण-ग्रंथ और उसमें उदाहरण के रूप में आने वाला काव्य

२—मुक्तक काव्य जिस पर अलक्षित रूप से संस्कृत साहित्य का प्रभाव था

३—अनुभूतिपूर्ण मुक्तक काव्य

४—अन्य रचनाएँ

(१) प्रशस्ति

(२) भक्ति-समन्वित रचनाएँ

(३) नीति

(४) कथात्मक काव्य

(५) प्रकृति-संबंधी रचनाएँ

जनता का काव्य था, या जनरुचि का प्रतिनिधित्व कर रहा था। जनता के कवि थे सूर, तुलसी, कबीर। कृष्णभक्ति, रामभक्ति और संतधर्म की परम्परा सारे रीतियुग (१६०० ई०—१८०० ई०) में जनता से श्रद्धा और भक्ति पाती रही। अब भी सारे भारत पर इन धर्म-भावनाओं और इन धार्मिक कवियों का महान प्रभाव है। अतः स्पष्ट है कि यह धाराएँ रीति-युग में भी साधारण जन-भूमि पर चलती रहीं। रीतिकाव्य की कविता राजदरबारों से शुरू हुई, जनता में उसका प्रचार मुसलमान राजशक्ति के नाश (१७५० ई०) के बाद ही हुआ। उस समय राजाश्रय नष्ट हो गये। अतः कवि-सम्मेलनों और पत्र-पत्रिकाओं एवं धनी-मानी व्यक्तियों का आश्रय पाकर यह रीतिकाव्य नीचे धरातल पर आ गया। यह समझ लेना आवश्यक है कि रीतिकाव्य पंडितों, राजाओं और विलासप्रिय अमीरों में विकसित हुआ। उसे जन-धारा कह कर हम मध्ययुग के जन-मन को व्यर्थ ही लांछित करेंगे। इसी से इस काव्य में चमत्कार-प्रियता और पांडित्य की प्रधानता है। राजाश्रय में प्रिय कविता की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं—

१—पंडित्य

२—चमत्कार-प्रियता

३—काव्य-रूढ़ियों और साहित्यशास्त्र की मान्यताओं का पालन

४—प्रेम और विलास

५—कला-प्रियता (भावपक्ष की उपेक्षा और अलंकार, छंद और भाषा की पुष्टि की ओर अधिक ध्यान) इस प्रकार की विशेषताएँ हमें रीतिकाव्य में भी पूर्णतः मिल जाती हैं। साधारण जनता के लिए तो सरस प्रवाहमय प्रसादगुणपूर्ण,

राजाश्रय में श्रीमद्भागवत विशेष प्रिय थी। राजदरबार पंडितों से भरा पड़ा था जो साहित्यशास्त्र के प्रकांड पंडित थे। इसके अतिरिक्त मिथिला राजवंश सेनवंश का प्रतिनिधित्व करना चाहता था जिसको जयदेव (गीतगोविन्द, १२०० ई०) को आश्रय दिया था। विद्यापति की 'अभिनय जयदेव' की उपाधि इसी मनोस्थिति की सूचक है। जयदेव के अनुकरण, राजाश्रय की भागवत-प्रियता और वैष्णवभक्ति और संस्कृत काव्य एवं काव्यशास्त्र के प्रभाव ने विद्यापति की राधा-कृष्ण-प्रेमकथा को विलास-कथा और दूत-दूतियों की कार्य-चातुरी तक ही सीमित कर दिया। राजपूताना और मध्य भारत के राजाओं ने सारे मध्ययुग (१२००-१८००) में मुसलमान सम्राटों का विरोध किया। इस राजाश्रय में हमें वीर-काव्य, प्रशस्ति-काव्य और स्वस्थ प्रेम-काव्य के दर्शन होते हैं। यह काव्य प्रधान रूप से भाटों (चारणों) तक ही वँधा रहा। १६०० ई० के बाद रीति-कवियों ने अपने राजाश्रयों की प्रशंसा में इन चारणों का अनुकरण करते हुए वीर-काव्य की रचना की चेष्टा की परन्तु वह थोथी प्रशस्ति मात्र ही रह गया। सच तो यह है कि मध्ययुग में वीरता जयमल, फत्ता, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह और छत्रपाल प्रभृति महापुरुषों के बाँटे पड़ी थी। १५२६ ई० की पानीपत की लड़ाई के बाद अनेक राजपूत राज्यों की वीरता सो गई। अकबर की नीति ने जयपुर जोधपुर जैसे बड़े हिन्दू नरेशों को पंचहजारी-दसहजारी बना कर निर्वीर्य कर दिया। हिन्दू आचार-विचारों पर मुसलिम विलासिता की छाप पड़ी। अब राजकवियों का काम उस विलासिता को उत्तेजित करना, काव्य-प्रतिभा से काम-विज्ञान का काम लेना और लक्षण-ग्रन्थों की रचना कर थोथी पंडिताई का दम भरना रह गया। यह कहना उचित नहीं होगा कि यह रीति-काव्य

नायिका को प्राधान्य देकर शृङ्गारी कवियों ने उसके अंग-प्रत्यंग —नखशिख—, उसके विरह, आलिंगन, चुम्बन, रति आदि का जी भरकर वर्णन किया है। कामशास्त्र विषयक प्रायः सभी बातें उनमें आ जाती हैं। भारतवर्ष जैसे देश में कवियों द्वारा स्त्री के समस्त शरीर का खुल्लमखुल्ला वर्णन तथा अन्य रचनाएं हिंदी साहित्य के विद्यार्थी के लिए एक विचित्र उलझन पैदा कर देती हैं। ग्रियर्सन महोदय ने इसका उत्तरदायित्व यहाँ की जल-वायु पर रखा है। अन्य इतिहास-लेखकों ने कवियों के आश्रय-दाताओं की कुत्सित रुचि बताकर परोक्ष रूप में सारा दोष कवियों के माथे मढ़ दिया है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि समाज में ऐसी अवस्था का उदय ही क्यों हुआ और उसका उत्तरदायित्व कहाँ तक कवियों पर है। साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी का कर्तव्य है कि वह इस गम्भीर विषय पर विचार करे। यह ठीक है कि मुग़लकालीन भोग-विलासपूर्ण दरबारी जीवन और उन दरबारों के आधीन और अनुकरण करने वाले हिन्दू राजाओं के दरबारों से उसे प्रश्रय मिला। परन्तु शृङ्गारपूर्ण रचनाओं की इतनी प्रचुरता का कारण खोजने के लिये हमें बाह्य कारणों की ओर ही न जाकर तत्कालीन समाज के मानसिक तत्त्व की ओर भी जाना पड़ेगा।"

२—डा० वार्ष्णेय का कहना है कि मुसलमानों ने देश की राज्यशक्ति अपने हाथ में कर ली, परन्तु वे यहीं रुके नहीं रहे। उन्होंने समाज पर चोट की। उस समय भारतीय समाज विच्छिन्न हो रहा था। "दोहरे आघातों का धक्का पड़ने पर देश में इस बात की आवश्यकता हुई कि समाज संगठित होकर बाह्य आघात और आंतरिक विच्छिन्नता का साहसपूर्ण सामना करने में समर्थ हो। जाति की इसी चेतनता के फलस्वरूप भक्ति

रसप्रधान काव्य ही चाहिये, इसी से रीतिकाव्य को हम जनता का न कहकर एक वर्ग विशेष का काव्य कहेंगे। रीति-काव्य में जन-काव्य की धारा भक्ति, संत और सूफ़ी काव्यों में प्रकाशित होती रही। अधिकांश काव्य पिछले महाकवियों का पिष्टपेषण रहा, परन्तु जनता उसी से जीवन, प्रकाश और बल प्राप्त करती रही। रीतिकाव्य उसकी समझ के ऊपर की चीज़ थी। उसमें अमीरों की चुहलें और पंडितों की माथापच्ची थी, हृदय की सच्ची अनुभूति नहीं। जनता के काव्य में संगीत का जो प्राचुर्य होता है, आत्मा का आलोडन-विलोडन होता है, वसन्त ऋतु की नैसर्गिक प्राणप्रद सुगंध रहती है, वह सब इस रीति-काव्य में कहाँ ? यहाँ राजाओं-महाराजाओं के कलुषित हृदय बुद्धि के विलास के लिए साहित्य-उद्यान की कटी-छटी, प्रतिभा के हाथों सँवारी हुई क्यारियाँ हैं, उनमें निकुंज वन का-सा प्राकृतिक वैभव कहाँ ? चित्रकूट की पावन शांति कहाँ ?

६—मनोवैज्ञानिक परिस्थिति

रीतिकाव्य समाज और कवि की किस मनोवैज्ञानिक परिस्थिति की उपज है, इस विषय में विशेष खोज नहीं की गई है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'आधुनिक हिंदी साहित्य' नाम के अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ में 'पुरानी कविता' शीर्षक के अन्तर्गत इस विषय पर कुछ विचार उपस्थित किये हैं—

१—"शृङ्गारात्मक रचनाओं से हमारा तात्पर्य हिंदी की उन रचनाओं से है जो ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी और कुछ अंशों तक बीसवीं शताब्दी तक रचित रीति और अलंकृत काव्य के अंतर्गत आती हैं और जिनका विषय नायक-नायिका के विलासपूर्ण जीवन का चित्रण है।

उच्चश्रेणी के समाज के अंकित कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा इच्छापूर्ति (wish-fulfilment) का एक अच्छा साधन निकाल लिया। इससे उस समाज की दबी हुई भावनाओं के लिए अच्छा निकास मिल गया।"

४—"उसके लिए उन्हें सामग्री भी प्रस्तुत मिल गई।" भागवत के आधार पर पूर्ववर्ती भक्त कवियों के शृंगार सम्बन्धी बहुत कुछ लिखा था। वहाँ यह प्रेम-प्रसंग लीला था, रूपक था, या अध्यात्म था। इन नये कवियों ने राधाकृष्ण की लीलाओं की मनचाही कल्पना की और उन्हें लीला, रूपक या अध्यात्म के बाहर निकाल स्त्री-पुरुष के यौनाकर्षण का आधार देकर सामने रखा।

ऊपर रीति-काव्य के मनोवैज्ञानिक आधार पर जो लिखा गया है, उसे हम संक्षेप में इस प्रकार लिख सकते हैं—

(१) रीति-काव्य का मानसिक आधार राष्ट्र और समाज की पराजय भावना में ढूँढ़ना होगा।

(२) वह तत्कालीन निराशा के प्रकाशन का एक रूप था।

(३) पिछले युग में ईश्वर जैसी भ्रमात्मक वस्तु से जनता ने सहारा लिया, अब पार्थिव प्रेम और विलासिता की ओर झुकी। आत्म-प्रताड़न की भावना दोनों प्रयत्नों में एक प्रकार छिपी हुई है।

(४) रीति-काव्य भक्तिकाल (१४०० ई०—१६०० ई०) के धार्मिक नियंत्रणों और निरोधों का ही परिणाम है।

मुख्य रूप से राजनैतिक और सामाजिक पराजय-भावना ही भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की आधारभूमि बतलाई गई है। परन्तु इन तर्कों की सबलता को स्वीकार करते हुए भी यह

आन्दोलन ने जोर पकड़ा जो मूलतः भारत की प्राचीन काल से चली आ रही विचारधारा के स्वाभाविक तौर पर विकास के रूप में मौजूद था।" "भक्तिकाल में हिन्दुओं ने इसी भ्रमात्मक वस्तु (ईश्वर) का अधिकाधिक सहारा लिया। यह तो ठीक है कि धर्म ने तत्कालीन समाज के अस्तित्व को बनाये रखा। परन्तु ठीक और स्वाभाविक होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि धार्मिक आन्दोलन समाज को बहुत आगे नहीं बढ़ा सका। अपनी सारी प्रार्थनाओं को विफल होते देख जनता में नैराश्य बढ़ता गया।"

"× × वांछित सहायता न आते देखकर जनता अधिकाधिक नैराश्य के गर्त के डूबती गई। इस नैराश्य-जनित अवस्था में समाज को किसी आश्रय की जरूरत थी। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि निराशा के घोर अन्धकार में मनुष्य या तो समाज से विमुख हो जाता है या नशे में चूर होकर अपने को भूल जाना चाहता है या धर्म जैसी किसी भ्रमात्मक वस्तु का सहारा लेता है। इन बातों के अतिरिक्त वह जिन्दगी का मजा उठाने में कालयापन करना भी श्रेयस्कर समझता है। × × × प्रेम करना और कराना उसके जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेता है। वह प्रेम पार्थिव होना चाहिये। और यह मानी हुई बात है कि विलासिता से भरे हुए शृङ्गारी प्रेम की ओर ही मनुष्य अधिक आकृष्ट होता है। धर्म की अपेक्षा समाज इसी आश्रय की ओर झुका।"

३—उनका विचार यह भी है कि रीति-काव्य भक्ति-काव्य के अतिसंयम के विरोध में एक प्रतिक्रिया भी थी। भक्तों ने जीवन को अनुशासित और नियंत्रित बनाने की चेष्टा में स्वाभावोचित सीमा का उल्लंघन किया था। ऐहिक जीवन की मूल भित्ति पर प्रहार पर प्रहार किये गये थे। अतः "शिक्षित और

चाहिये था कि हिंदी नायक-नायिकाभेद संस्कृत के नाटक-संबंधी शास्त्रों और कामशास्त्र के आधार पर खड़ा किया गया था। सिद्ध-सामंत-युगीन संस्कृत साहित्य में इसका बड़ा भारी गोरखधंधा खड़ा कर लिया गया था। अंतः यह कोई नई प्रवृत्ति थी ही नहीं, अनुकरण मात्र था। इसके लिए रीति-कवियों को क्या श्रेय दिया जाय? 'परकीया' नायिका पर विचार करते हुए डाक्टर साहब ने पश्चिमी विद्वानों के उद्धरण देकर स्त्री-पुरुष दोनों की मूल बहुवैवाहिक प्रवृत्ति की दुहाई दी है। परंतु यों तो संसार के सारे महाकाव्य, कथा-काव्य, उपन्यास, चित्रपट 'परकीया' पर आश्रित हैं। शरतचंद्र और हार्डी के सारे उपन्यास ही परकीयाओं को लेकर चले हैं। वे जिसे शरीर अर्पण करती हैं, उसे मन अर्पण नहीं कर सकतीं। यह द्वैध व्यक्तित्व उन्हें तोड़ देता है। समाज की एक विवाह-पद्धति, आचार-संबंधी भावना, परिस्थितियों की उलझन, मनुष्य-मनुष्य का रुचि-वैभिन्न्य, स्वयं नर-नारी की अपूर्णता न जाने कितनी ऐसी बातें हैं जो समाज में अवैध प्रेम, अभिसार और अवैध यौन-सम्बन्ध को जन्म देती हैं। इसके लिए हिंदी या संस्कृत का कवि ही लांछित क्यों हो? प्रेम-भाव में गहनता लाने के लिए बंगाल के भावुक वैष्णव भक्तों को भगवान् की उपासना भी 'परकीया' भाव से करनी पड़ी। हिंदू समाज में प्रेम वैवाहिक जीवन के बाद उत्पन्न होता है, अतः दाम्पत्य जीवन में प्रेम का विकास कवि कैसे दिखाये, कौन-सी बाधाएँ कवि पार करे, और समाज बाधाओं को तो लांछा समझता है। विवाह से पहले और बाद स्त्री का कोई जीवन ही नहीं है। पति के प्रति आत्मसमर्पण ही जहाँ प्रेम का सर्वोच्च विकास है, वहाँ काव्य और कला का विषय क्या होगा? इसी से रीति-कवियों ने नया विषय उठाया।

मानना पड़ता है कि हिंदी रीति-काव्य मुख्यतः उस आश्रय की कविता की परंपरा का अंतिम विकास था जिसने हमें कालिदास, भवभूति, बाण और धनंजय प्रभृति कवि दिये थे। गुप्तों के समय से कवियों को बराबर राजाश्रय मिल रहा था। जब तक यह राजाश्रय सबल, सचेष्ट, स्वस्थ रहा, तब तक यह काव्य भी सबल, सचेष्ट और स्वस्थ रहा। कालिदास प्रेम-विलास, सौन्दर्य और ऐश्वर्य के कवि हैं। संसार के किसी भी साहित्य में कोई एक कवि इन क्षेत्रों में उनके आगे नहीं जा सकता। परंतु जब राजा और सामंत ही बिगड़ गये, जब राजाश्रय की रुचि ही कलुषित हो गई, तो फिर राजाश्रय में रचे काव्य में स्वस्थता, आह्लादता कहाँ होती? मुसलमान शासकों ने भी ईरानी सामंतों की तरह कवियों और कलाकारों को आश्रय दिया। रुचि-वैभिन्नय और सभ्यता और संस्कृति के अलगाव के कारण मुसलमानी राजाश्रय का साहित्य उतनी उच्च कोटि का नहीं होगा जितना प्राचीन हिंदू राजाओं का साहित्य। वहाँ प्रेम के नाम पर विलासिता और थोथे प्रेम का राज्य था। प्राणों की अनुभूति नहीं, हृदय की सप्तरंगी सज्जा नहीं, बुद्धि का व्यर्थ का विलास! इसी विदेशी प्रभाव ने हिंदी के रीति-काव्य को गर्हित बना दिया परंतु वह एकदम अलग-थलग चीज नहीं थी। न वह पराजय की उपज थी, न वह धार्मिक नियंत्रणों के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। एक विशेष सामंती वर्ग में चली आती काव्य-परंपरा की वह अंतिम परिणति मात्र थी।

नायक-नायिकाभेद, परकीया, दूती—रीति-काव्य के विशिष्ट अंग। डा० वार्ष्णेय ने इनकी भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। "नायक-नायिकाभेद मूल में स्त्री-पुरुष के वास्तविक पारस्परिक संबंध का विशद विवेचन है।" परंतु यह भी कह देना

राधा-कृष्ण और राधा के पति आयण गोपाल सम्बन्धी ब्रह्म-वैवर्त्त की मान्यता और चंडीदास की कविता ने इस भावना को आगे बढ़ाया। राधाकृष्ण और आयण के प्रतीकों के हट जाने पर यह सारा काव्य दैनिक जीवन के स्तर पर उतर आया। तब समाज की आचार-भावना पर इसने आघात किया और यह लांछित हो गया। इसके लिए हमें मूल मानव की बहुवैवाहिक प्रवृत्ति की बात उठाने की कोई आवश्यकता नहीं है। रही दूती की बात। वह तो संस्कृत नाटकों में शताब्दियों से जीती-जागती मौजूद है। सामंती समाज के आचार-प्रधान वतावरण में दूती के बिना प्रेमी-प्रेमिका का मिलना ही असंभव था। हिंदू सामाजिक व्यवस्था में नारी इतनी स्वतंत्र नहीं थी कि आप ही अभिसार के लिए निकल पड़े। इससे उसका अभिजातत्व जाता रहता। कामशास्त्र (वात्स्यायन) में तो एक महत्त्वपूर्ण परिच्छेद दूती-प्रसंग पर ही लिखा गया है। जयदेव, विद्यापति और चंडीदास के राधा-कृष्ण-काव्य में भी दूती महत्त्वपूर्ण है। इसी से रीति-काव्य में भी दूती को महत्त्वपूर्ण स्थान मिल गया। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने साहित्य के ऐतिहासिक तथ्यों की खोज-बीन करें। रीतिकाव्य को 'आध्यात्मिक की प्रतिक्रिया' या 'इंद्रियों की पुकार' मात्र कह देना कोई बड़ा साहस का काम नहीं है।

वास्तव में रीति-काव्य एक अत्यन्त संश्लिष्ट काव्य है। वह कविता कम है और बहुत कुछ अधिक है। काव्यशास्त्र, कामशास्त्र, सौन्दर्य-विज्ञान, तात्कालिक लोक-व्यवहार आदि ने उसके संस्कार गढ़े हैं। इनका भी सब कुछ अपने सबसे सुन्दर और स्वस्थ रूप में वहाँ नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हिंदी रीति-काव्य में इनका जो कुछ है, उसे वैज्ञानिक ढंग से